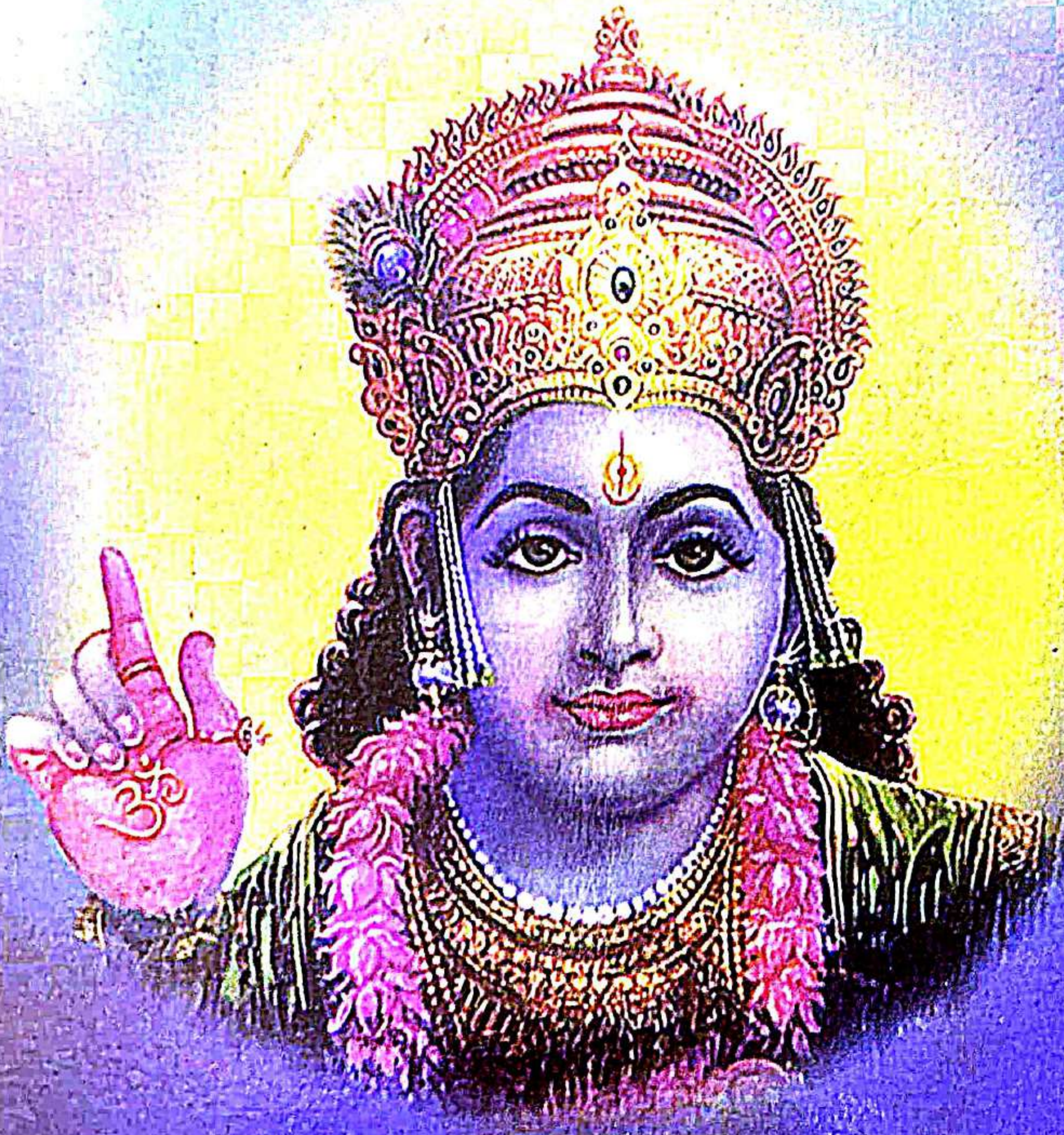
कृष्णायन



कृष्ण माधव लाल

कृष्णायन

लेखक

आचार्य कृष्ण माधव लाल

प्रकाशक

गाँधी लाल, आजमगढ़

प्रकाशक :
गाँधी लाल
मुकेरीगंज (मुरली सिनेमा के सामने)
आजमगढ़

संस्करण : सितम्बर 2001

मूल्य : पचासी रुपये मात्र

लेजर कम्प्यूटराइज्ड कम्पोजिंग :
नितिन कम्प्यूटर
करेली, इलाहाबाद

मुद्रक : शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद

निकष

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।"

भगवान् कृष्ण ने धरती पर अवतरित होने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए अर्जुन से कहा था–"जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म ऊँचा उठता जाता है, तब-तब मैं आत्मसर्जन करता हूँ। मैं साधु पुरुषों के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में सम्भूत होता हूँ।"

कर्मयोगी, अतुलित पराक्रमी, वेदमूल, दिव्यतम व्यवहारिकता के पर्याय, लोकरञ्जक, कला, संस्कृति एवं इतिहास के ज्योति-केन्द्र-पुरुष श्री कृष्ण ने महाभारत के विश्वप्रभावी इतिहास की जो रचना अपने अद्वितीय, विरुद्ध, धर्माश्रयी, विराट् व्यक्तित्व के द्वारा की उसका साम्य विश्व-इतिहास में कहीं भी प्राप्त नहीं होता। त्रिकालदर्शी वेदव्यास जी ने महाभारत महाकाव्य और अट्ठारह पुराणों की जो विश्वजीवन-ज्ञान-व्यापी कालजयी रचना की उसके नाभिक (न्यूक्लियस), कर्मयोगी, विश्वगुरु, राजराजेश्वर, लोकनायक, महातेजस्वी, कला-पुञ्ज, सौन्दर्यकान्त, जनसेवी, त्रिकालदर्शी श्री कृष्ण ही हैं। ऐसे विश्वव्याप्त महानायक का जीवन-चरित लिखकर ज्ञान, कला और शिल्प की उच्च कसौटियों पर अपने शास्त्रनिष्णात व्यक्तित्व को अद्वितीय और निरञ्जन सिद्ध करना अति दुष्कर कार्य है, फिर भी इस कार्य को एक वर्चस्वी चुनौती मानकर पुण्यश्लोक, गाथाशेष, बहुशास्त्रविद्, वेद, उपनिषद्, पुराण, महाकाव्य, इतिहास, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित, कला और संस्कृति के महामेधावी पाण्डित्यधनी स्वर्गीय कृष्ण माधव लाल ने 'कृष्णायन' नाम से श्री कृष्ण चरित लिखकर जीवनी-लेखन के इतिहास में अपना महिमामण्डित स्थान बना लिया है।

स्वर्गीय कृष्ण माधव लाल जी अपनी इस कृति को संस्कृत भाषा में भी लिख सकते थे, किन्तु जिस लक्ष्य को लेकर रामायण में वर्णित रामकथा को गोस्वामी तुलसी दास ने अवधी भाषा में निबद्ध करके हिन्दी भाषा से जुड़ी हुई जनता का कल्याण किया, उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कृष्ण माधव लाल जी ने भी महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित श्री कृष्ण की दिव्य लीलाओं, ऐतिहासिक घटना-प्रसंगों एवं वर्तमान राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान तथा रचनात्मक प्रेरक आदर्शों का निदर्शन कराने हेतु 'कृष्णायन' नामक दिव्य चरित ग्रन्थ का प्रणयन करके हिन्दी भाषा, जनता, चिन्तकों,

लेखकों और समाजसेवियों के लिए एक जीवनप्रकाशी अन्य उच्च ज्योति-स्तम्भ की स्थापना की है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि महाभारत, श्रीमद्भागवत अन्य अथवा पुराणों में चर्चित मिथकीय अविश्वसनीयता का समाधान करने हेतु लेखक ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपना कर घटना-प्रसंगों को अतिविश्वसनीय, व्यावहारिक और लोकसहज बना दिया है। यही इस चरित-ग्रन्थ की उच्चतम उपलब्धि है।

इस संदर्भ में स्व० कृष्ण माधव लाल जी ने महात्मा एवं महायोगी श्रीकृष्ण के चरित्र पर लगाये जाने वाले आक्षेपों में से सोलह हजार एक सौ आठ रानियों का आधिपत्य, स्नान करती हुई नंगी गोपिकाओं का वस्त्र-हरण-प्रसंग, रासलीला-रहस्य, राजा मुचुकुन्द की ऐतिहासिकता और बहुसंख्या आधारित काल्पनिक प्रसंगों का स्पष्टीकरण नितान्त वैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। जो लोग श्री कृष्ण को केवल गोपिका-प्रेमी, कलामर्मी, माखन-चोर, सरल बालक, परम आत्मीय लोक-सखा मानने का भ्रम पाल कर चल रहे हैं, उसके निवारणार्थ कृष्ण माधव लाल जी ने अघासुर, वकासुर, पूतना, धुन्धुकारि, मुष्टिक, चाणूर, कंस, भौमासुर, शाल्व, दन्तवक्त्र, रुक्मी, शिशुपाल और नरकासुर इत्यादि लोक-शत्रुओं का संहार तथा कालयवन का मान-दलन करके धरती के ऊपर व्याप्त आतंक से मुक्ति दिलायी थी। इन आख्यानों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करते हुए लेखक ने वर्तमान समय में भारतीय जनता को विदेशी आक्रमणों, आन्तरिक राष्ट्रघातों, स्वार्थवाद, जातिवाद, अवसरवाद, भोगवाद और विभेदवाद से सम्बद्ध समस्याओं के निराकरण और समाधान का पुष्ट आधार प्रदान किया है तथा 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' और शक्ति के सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप से व्याख्यायित भी किया है। लेखक ने भारत के सिंहासन पर विराजमान वर्तमान शासकों को इस का उत्प्रेरण दिया है–'क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो। उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत सरल हो।'

स्व० कृष्ण माधव लाल जी भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के महायोद्धा थे। वे महात्मा गान्धी के अनन्य सहचर थे, भारतीय शास्त्रों के महापण्डित थे। इसलिए अंग्रेजों को भारत से भगाने तथा शासन स्तर पर अपना तन्त्र स्थापित करने के लिए उन्होंने निर्भीक भाव से जो संग्राम लड़ा था उसका सच्चा उदाहरण उन्हें भारत के इतिहास में श्रीकृष्ण के महायोद्धा व्यक्तित्व के भीतर दिखायी पड़ा था। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्राध्यक्ष एवं विश्वनियन्ता थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय जनता को सनातन काल से चली आ रही नीतियों, ऊर्जा की प्रवाहमान दिव्य धाराओं, राष्ट्र के प्रति समर्पणशील कर्तव्यों, स्वातन्त्र्य रक्षा हेतु महोत्सर्जन, लोकतन्त्रीय मूल्यों के सम्वर्धन, लोकाराधन, कला, संस्कृति, इतिहास और जीवन-व्यवहार के वैभवों से सम्पन्न करने हेतु 'कृष्णायन'–जैसे प्रेरक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ आज के सन्दर्भ में भारतीय राष्ट्रीयता को और राष्ट्रवादियों के लिए उतना ही प्रासंगिक है जितना वेदव्यास के जीवन-काल में 'महाभारत' और श्रीमद्भागवत' थे।

इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के द्वारा किये गये महान् कार्यों और जन-कल्याण हेतु किये

से विश्वव्यापी निर्णयों का सुस्पष्ट निदर्शन तो होता ही है, साथ ही इस ग्रन्थ में बालक कृष्ण, महायोद्धा युवा कृष्ण एवं जगद्गुरु, महान् विद्येश्वर कृष्ण का विश्वात्मक, तुलित और आदर्श व्यक्तित्व जीवन और काल की अप्रतिहत, अनाहत धारा के रूप में था कालजयी, जनकल्याणकर्ता-सन्देश के रूप में लिखा गया है। लेखक का उद्देश्य नितान्त उदात्त रहा है। इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में गीता-ज्ञान-प्रदाता श्री कृष्ण के महान् संदेशों को नवसर्जित रूप में साभिप्राय संश्लिष्ट किया है। लेखक ने पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा अन्य दर्शनों में निर्दिष्ट महत्त्वपूर्ण सूत्रों को व्यवहारिक रूप में भाषित एवं व्याख्यायित किया है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय षड्दर्शन जीवन-व्यवहार की वीथियों में चरितार्थ होकर अपनी सनातन मूल्यवत्ता और चिन्तन-चमत्कृति प्राप्त कर सके।

इस ग्रन्थ में लेखक ने समाहार एवं व्यास शैलियों का आधार तो ग्रहण किया ही है, साथ ही अधुनातन विकसित जीवन के लिए वार्तिक एवं भाष्य की सुस्पष्ट परम्परा का अपेक्षित संदर्श भी प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा लगता है कि हम महाभारत और श्रीमद्भागवत में वर्णित घटना-पथों पर संजय-साक्षी के रूप में सहगमन करते जा रहे हैं। लेखक ने इस कृति में कहीं-कहीं उत्पाद्य कथात्मक स्वरूप भी गढ़ा है जो महाभारत में तद्रूप उपलब्ध नहीं है।

स्व० कृष्ण माधव लाल जी एक ख्याति लब्ध शिक्षाविद्, तत्त्ववेत्ता, विश्व इतिहास के पण्डित, सत्य और अहिंसा के आजीवन पथिक, परम स्वाभिमानी व्यक्ति एवं प्रखर राष्ट्रवादी दार्शनिक रहे हैं। उनके द्वारा लिखित 'गान्धी-व्याकरणम्', 'विश्व इतिहास-पुराणम्' नामक ग्रन्थ ख्याति-शिखर पर अपनी चमत्कृति एवं चिन्तन-आभा मण्डित कर चुके हैं। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि 'कृष्णायन' महाभारत एवं श्रीमद्भागवत की ही भाँति लोकप्रिय बने जिससे सभी लाभान्वित हों और पुरातन साहित्य-परम्परा अभिनव सञ्जीवनी के रूप में पुष्पित और फलित होती हुई रस के चरम आनन्द-समुद्र के सनातन उच्छलन तक परमेष्ठी अनुभूति करा सके।

प्रो० प्रभुनाथ सिंह 'मयंक'

दिनांक-27 जुलाई, 2001ई०

रीडर, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय

आर्यमगढ़

गाँधी जी की प्रतिमूर्ति : आचार्य कृष्ण माधव लाल

आचार्य कृष्ण माधव लाल के सुयोग्य पुत्र गाँधी लाल जी ने उनकी कृति 'कृष्णायन' की प्रूफ प्रति देखने के लिए देते हुए मुझसे कुछ लिखने के लिए कहा तो मुझे ईषत् संकोच हुआ। कारण, जब व्यक्ति किसी रचनाकार के अधिक निकट होता है, तब भूल-चूक और पक्षधरता का खतरा कुछ ज्यादा ही रहता है। फिर भी लिखने बैठा हूँ तो कुछ लिखना ही पड़ेगा।

स्व० कृष्ण माधव लाल मूलतः ज्ञान की किस शाखा के विद्वान थे, यह कहना मेरे लिए बहुत ही कठिन-सा प्रतीत होता है। उन्हें मैंने संस्कृत में घण्टों भाषण करते सुना है। अरबी, फारसी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं पर उनका पर्याप्त अधिकार था। गणित तथा अंग्रेजी के वे उद्भट विद्वान थे। आचार्य जी गाँधी जी की प्रतिमूर्ति थे। घुटने तक खादी की धोती पहनते और खादी की ही धोती ओढ़ते थे। नंगे पाँव और नंगे सिर। वे अधिकतर पैदल ही चलना पसन्द करते थे। स्वतंत्रता आन्दोलन के क्रम में उन्हें अनेकशः जेल-यात्रायें करनी पड़ी थीं। आजादी मिलने के बाद भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने एक बार उनसे कहा कि आप कांग्रेस के टिकट पर एम.पी. का चुनाव लड़ें, मैं आपको विदेश मंत्री बनाऊँगा। आचार्य जी ने बिना देर किए तुरन्त कहा–देश आजाद हो गया। मेरा काम समाप्त। आप लोग शासन तंत्र सम्हालिए, मैं तो अपने क्षेत्र की पिछड़ी जनता को शिक्षित करने का ही काम करूँगा। यही मेरा कार्य-क्षेत्र होगा। इसी क्रम में उन्होंने आजमगढ़ जनपद में गाँधी गुरुकुल भँवरनाथ, महाराजगंज इण्टर कालेज, महाराज गंज, सुभाष इण्टर कालेज करखिया तथा कुछ अन्य विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों को जब सरकारी मान्यता मिल गई और वे ठीक से चलने लगे, तो एक बीतरागी की तरह उन विद्यालयों की प्रबंधकीय समितियों से अपना संबंध तोड़ लिया। ऐसे साधु चरित तथा निस्पृह थे आचार्य कृष्ण माधव लाल। आचार्य जी की दृष्टि ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में होने वाले विकास-क्रम पर हर दम रहती थी। ज्ञान के किस क्षेत्र में कहाँ, क्या हो रहा है, इस पर सतत मनन किया करते थे। हिन्दी की आलोचना विधा पर चर्चा करते हुए उन्होंने बहुत ही मर्माहत स्वर में एक बार मुझसे कहा था–"आज के समीक्षक विशिष्ट व्यक्तियों पर ही अपनी कलम चलाने में क्यों अधिक सचेष्ट रहते हैं? साधारण, सहज, स्वाभाविकता से परिपूर्ण रचनाओं पर विचार करने में उनकी प्रतिभा पलायन क्यों कर जाती है? यह पीड़ा उन्हें जीवन भर सताती रही। विशिष्ट होकर किसी रचना-प्रक्रिया को देखने-परखने की प्रवृत्ति का परित्याग करके ही कोई समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के आसन पर आसीन हो सकता है। मजे की बात तो यह है कि अबके आलोचक लेखक की कृति को देखकर नहीं, ठसकी जाति को देखकर समीक्षा करने बैठते हैं।

आचार्य जी का रचना संसार बहुत ही विस्तृत और व्यापक था। मेरे संज्ञान में उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखी थीं। पता नहीं उनकी पाण्डुलिपियाँ उनके आत्मज गाँधी लाल के पास सुरक्षित हैं भी या नहीं? उन्होंने संस्कृत भाषा में एक ऐसी पुस्तक लिखी थी जिसमें मात्र दो धातुओं का ही प्रयोग किया गया था। उन्हीं दो धातुओं से संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया विशेषण आदि शब्दों का निर्माण करते हुए पूरी पुस्तक का समापन किया गया है। लगभग सौ पृष्ठों की वह पुस्तक रही होगी। भाषा विज्ञान पर भी उन्होंने एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी थी जो अप्रकाशित ही रह गई। जीवन की सान्ध्य बेला में आचार्य जी ने एक उच्च कोटि का ग्रन्थ "वैदिक साहित्य का सांस्कृतिक इतिहास" लिखा जिसका प्रकाशन 'कृष्णायन' के तुरन्त बाद होना है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर अनेक नये तथ्य सामने उद्घाटित होंगे और चिन्तन की एक नई राह खुलेगी।

खेद का विषय है कि आचार्य कृष्ण माधव लाल का अब तक केवल एक ही ग्रन्थ "गाँधी व्याकरणम्" प्रकाश में आया है। इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने पाणिनि के 'सिद्धान्त कौमुदी" के सभी सूत्रों को संस्कृत के 79 श्लोकों में निबद्ध कर दिया है। कितना बड़ा काम था यह। इस पुस्तक की प्रामाणिकता के परीक्षण के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने संस्कृत के प्रकाण्ड पंडितों की एक टीम भेजी थी। गाँधी गुरुकुल भँवर नाथ, आजमगढ़ के प्रांगण में एक सप्ताह तक शास्त्रार्थ होता रहा। विद्वानों ने उस संगोष्ठी में 'गाँधी व्याकरणम्' की उपयोगिता तो स्वीकार कर ली किन्तु सरकारी प्रतिवेदन में प्रतिकूल टिप्पणियाँ उल्लिखित कर दी गईं। क्यों न हो, ऐसे अद्भुत् ग्रन्थ का रचयिता कोई कायस्थ कैसे हो सकता है?

अब आचार्य जी का दूसरा ग्रन्थ 'कृष्णायन' प्रकाशित हो रहा है। 'कृष्णायन' नाम सुनते ही पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र द्वारा अवधी भाषा में लिखित 'कृष्णायन' महाकाव्य याद आने लगा है। एक गद्य में है, दूसरा पद्य में। परन्तु दोनों की भाव भूमि, विचारशैली एक जैसी ही है। कृष्ण लीला ही दोनों के केन्द्र बिन्दु में है। महापुरुषों के चरित्र और व्यक्तित्व युगों–युगों तक किसी राष्ट्र के जन मानस को उत्प्रेरित करते रहते हैं। कृष्ण और राम दोनों ही हमारे राष्ट्र के धन (+) हैं। एक पूरब को पश्चिम से जोड़ता है तो दूसरा उत्तर भारत को दक्षिण भारत से। कृष्ण का तो जन्म भी दिव्य था और कर्म भी दिव्य। **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**। कृष्ण ने अपने विषय में स्वयं ही कहा था। कृष्ण और राम के जीवन–वृत्त को यदि भारतीय वाङ्गमय से निकाल दिया जाये तो भारतीय वाङ्गमय का वृहत्तर भाग शून्य हो जाएगा।

आचार्य जी के 'कृष्णायन' के प्रारंभिक स्कन्धों की भाषा सरल एवं सुबोध है जिनमें कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन है। श्रीमद्भागवत् में कृष्ण लीलाओं को बड़ी ही चतुराई से प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं प्रतीकों के चलते रीतिकाल के कवियों तथा अन्यों ने भी काव्य रचना की तथा अपनी वासनात्मक इच्छाओं का कविता के माध्यम से रेचन किया। सामान्य जन में कृष्ण चरित के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुईं।

आचार्य जी ने उन प्रतीकों के निहितार्थ को इतनी सावधानी से स्पष्ट किया है कि कृष्ण को 'रसिया' कहने का अवसर किसी को न मिले। 'कृष्णायन' में सामाजिक परिवेश को भावनात्मकता के धरातल पर प्रदूषण मुक्त रखने का प्रयास किया गया है। 'कृष्णायन' के अन्तिम दो, तीन अध्याय बहुत ही महत्वपूर्ण एवं पठनीय हैं। लगता है प्रारंभिक अध्याय सर्वसाधारण को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं और अन्तिम अध्याय विद्वानों, मनीषियों और चिन्तकों की दृष्टि से लिखे गए हैं। पुस्तक में कुछ नये पारिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त हैं, जिनका प्रयोग पुराकाल में कभी होता रहा होगा। जैसे–गुप्तचर के लिए 'पशपश', महल के लिए 'महालय', शोरगुल के लिए 'संस्वर', शब्द आदि। 'कृष्णायन' की कथ्य शैली किंचित प्राचीनता लिए हुए है। पुस्तक पठनीय है, समाजोपयोगी है।

'कृष्णायन' के माध्यम से श्री मद्‌भागवत् एवं महाभारत के मिथकीय तथा प्रतीकात्मक प्रसंगों से संबंधित अतीत के साक्ष्य को वैज्ञानिक निकष पर कसते हुए वर्तमान को सँवारने और भविष्य की सम्भावनाओं को तलाशने का प्रयास किया गया है। यह ग्रन्थ इतिहास और साहित्य दोनों है।

आशा है सामान्य पाठक तथा विज्ञजन दोनों ही इसे पढ़कर सन्तुष्ट होंगे। इत्यलम्।

कृष्ण पक्ष अष्टमी
सम्वत् २०५८

अनिरुद्ध सिंह
भू०पू० सहायक निदेशक
राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय

प्रकाशकीय व्याहृति

'कृष्णायन' के प्रकाशन के क्रम में मुझे **प्रो० प्रभुनाथ सिंह 'मयंक'** रीडर, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़ तथा **अनिरुद्ध सिंह** अवकाश प्राप्त सहायक निदेशक, राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया। प्रूफ रीडिंग से लेकर पुस्तक के संशोधन आदि तक इन दोनों विभूतियों ने मुझे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया, जिसका आभार शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। पुस्तक का मुद्रण शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद ने बड़ी ही तन्मयता के साथ किया है। प्रकाशन के प्रबंधक श्री **द्वारका प्रसाद अग्रवाल** का भी मैं उनके सहयोग के लिए ऋणी हूँ। **डॉ० गिरिजा शंकर लाल**, विभागाध्यक्ष (इतिहास) दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़ ने पुस्तक के प्रकाशन के लिए मुझे अत्यधिक प्रेरणा दी तथा अपने मूल्यवान सुझाव भी दिये। मैं उनका कृतज्ञ हूँ और अपने सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

गाँधी लाल
मुकेरी गंज, आजमगढ़

प्राक्कथन

इस पुस्तक में स्कन्ध एक से पाँच तक हमने भगवान् कृष्ण के जन्म, उनके द्वारा वृन्दावन में व्रज-मण्डल की स्थापना, फिर कंस के वध और तदनन्तर द्वारका के यादव साम्राज्य की स्थापना एवं उसके दृढ़ीकरण के प्रसंग में श्रीकृष्ण द्वारा स्वयंवर आदि में भाग लेकर अपने आठ विवाह करने की चर्चा की है।

द्वारका के दृढ़ीकरण के पश्चात् भगवान् कृष्ण के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हुआ। बात यह थी कि उन दिनों भारतवर्ष पर कुरु राज्य के सम्राटों का शासन था और एक प्रकार से उन्हीं का सारे भारतवर्ष पर वर्चस्व छाया हुआ था। कुरु राज्य के सम्राट् का वंश दो भागों में विभक्त हो गया था, जो इतिहास में कौरव और पाण्डव नाम से प्रसिद्ध था। इनमें कौरव बड़े अत्याचारी थे, जब कि पाण्डव सत्यशील एवं न्यायप्रिय थे।

भगवान् कृष्ण ने द्वारका साम्राज्य की स्थापना कर चुकने के पश्चात् भारत पर सम्राट् के रूप में शासन करने वाले कौरव–पाण्डव वंशों में से सत्यशील एवं न्यायप्रिय पाण्डवों के साथ अपनी घनिष्ठता स्थापित की और इन युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाँचों पाण्डवों की सहायता करते हुए पहले महाराज युधिष्ठिर को भारतवर्ष का सम्राट् बना दिया। परिणामतः पाण्डवों के प्रबल विरोधी कौरवों ने दुष्ट षड्यंत्र द्वारा पाण्डवों को तेरह वर्षों के लिए वनवासी का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर दिया। अन्त में कौरवों और पाण्डवों क़े बीच महाभारत नामक महायुद्ध हुआ, जिसमें भगवान् कृष्ण ने पाण्डवों की सहायता की और अन्त में उन्हें विजयी बनाकर भारतवर्ष पर धर्म के शासन की स्थापना की।

यतः कौरवों और पाण्डवों के विषय में पूर्णतया जाने बिना पाठक भगवान् कृष्ण के आगे के कार्य–कलापों के विषय में नहीं समझ सकते। अतः पहले हमने स्कन्ध छः में संक्षिप्त महाभारत का उल्लेख किया है, जिसका आरम्भ हमने महाराज शान्तनु से किया है।

महाराज शान्तनु ईसा के जन्म से तैंतीस सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होने वाली शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष पर शासन करते थे। महाभारत की कथा हमने पहले द्रौपदी स्वयंवर तक लिखी है, क्योंकि द्रौपदी स्वयंवर के ही अवसर पर भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के बीच घनिष्ठता बढ़नी प्रारम्भ हुई, जिसकी परिणति भारतवर्ष पर पुनः महाभारत युद्ध के पश्चात् धर्म के शासन की स्थापना हुई।

स्कन्ध छः के अन्त में हमने बतलाया है कि द्रौपदी स्वयंवर के पश्चात् किस प्रकार

भगवान् कृष्ण की सहायता से ज्येष्ठ पाण्डव महाराज युधिष्ठिर कुरु राज्य के उत्तरी भाग के शासक बने और इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर उस पर शासन करने लगे।

स्कन्ध सात में सोलह सहस्र एक सौ पत्नियों एवं आठ पटरानियों के साथ द्वारका में आदर्श–सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत करना, स्कन्ध आठ में भगवान् कृष्ण ने ज्येष्ठ पाण्डव महाराज युधिष्ठिर को भारतवर्ष का सम्राट् बनाने के लिए पहले राजसूय यज्ञ के प्रसंग में उनकी सहायता और फिर जरासन्ध और शिशुपाल का वध तथा कौरवों द्वारा एक दुष्ट षड्यन्त्र द्वारा पाण्डवों को तेरह वर्षों तक वनवासी जीवन व्यतीत करने की कथा है।

स्कन्ध नौ में पाण्डवों का महारानी द्रौपदी के साथ अपनी एक वर्ष के गुप्त वनवास की अवधि का मत्स्य देश के महाराज विराट् के महालय में व्यतीत करने का वर्णन है। महाराज विराट् का अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह महाराज अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ करने की तथा शिखण्डी के विषय में महत्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं।

स्कन्ध दस में युद्ध क्षेत्र में कई ऐसी महत्वपूर्ण बातें हुई जिनका यदि भगवान् श्रीकृष्ण ने उचित प्रतिकार न किया होता, तो धर्म भीरु पाण्डव निःसन्देह पराजित हो गये होते।

स्कन्ध ग्यारह और बारह में सच्ची कृष्णलीला एवं भगवान् कृष्ण का मधुर व्यक्तित्व तथा श्री सुदामा चरित्र का वर्णन है।

स्कन्ध तेरह अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें भगवान् कृष्ण के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें इस समस्त जगत् को रचने वाली और सबकी स्वामिनी कोई एक महाशक्ति है जिसे ईश्वर या परमेश्वर आदि नामों से जाना जाता है। अब प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि कितना ही अच्छा होता ''यदि मैं ईश्वर का दर्शन कर सकता।'' इसे विस्तार से बतलाया गया है।

स्कन्ध चौदह में गीता के अध्यायों का सार बड़ी ही सरल भाषा में बताया गया है।

विश्वास है कि पाठक गण पुस्तक को पढ़कर ज्ञान संवर्द्धन करेंगे और समाज में व्याप्त अत्याचार, दुराचार को त्यागकर निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेते हुए अपने जीवन को सुखी बनायेंगे।

कृष्ण माधव लाल
(आचार्य)

कृष्णायन



लेखक

आचार्य कृष्ण माधव लाल

अनुक्रमणिका

स्कन्ध 'एक'

"कृष्णायन" अथवा भगवान् कृष्ण का जीवन चरित

यद्यपि भगवान् कृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत जैसा उत्तम ग्रंथ विद्यमान है, फिर भी हम भगवान् कृष्ण के चरित्र पर प्रकाश डालना इसलिए अत्यावश्यक समझते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण ऐसी कथा या कहानी के रूप में नहीं लिखा गया है, जैसी कथा या कहानी साधारण पाठक रुचिपूर्वक पढ़ते हैं, वरन् श्रीमद्भागवत पुराण कृष्ण भक्तों के लिए उन्हीं की दृष्टि से लिखा गया है, जिसके कारण साधारण लोग इसे प्रायः नहीं पढ़ते हैं। भारत के साधारण लोग तो क्या पढ़े-लिखे लोग भी भगवान् कृष्ण की कथा को वास्तविक प्रकार से नहीं जानते हैं। मैं कई पंडितों से पूछकर भगवान् कृष्ण के विषय में उनका ज्ञान जानकर उसी के अनुसार ऐसा लिख रहा हूँ। साधारण तो क्या पढ़े-लिखे लोग भी कृष्ण के विषय में बस इतना ही जानते हैं कि, "भगवान् कृष्ण ने अत्याचारी शासकों से पीड़ित प्रजा को मुक्ति दिलाने के लिए अवतार लिया। उन्होंने पहले दुष्ट कंस जैसे नरेश का वध किया और पश्चात् महाभारत युद्ध में भी न्यायी एवं सत्याचारी पाण्डवों का पक्ष लेकर अन्यायी एवं अत्याचारी कौरवों का विनाश कराया तथा अन्त में भक्तों को संसार के दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति दिलाने के लिए गीता के दिव्य ज्ञान का उपदेश दिया।

यतः भगवान् कृष्ण एक सम्राट के रूप में अवतीर्ण हुए थे। अतः उन्होंने उस काल के सम्राटों के समान ही अपने बहुत से (सोलह सहस्र एक सौ आठ) विवाह किये। इन विवाहों का एक मात्र प्रयोजन यही था कि, "कृष्ण भक्त लोग गीता के उपदेश के अनुसार सत्य एवं न्याय के मार्ग पर चलते रहें, किन्तु साथ ही भगवान् कृष्ण के रसीले चरित्रों का गान करते हुए संसार में आनन्दित हों और मोद मनायें"—बस इतना ही लोग भगवान् कृष्ण के विषय में जानते हैं।

पाठक देखेंगे कि भगवान् कृष्ण का यदि यही चरित्र है, तो हिन्दू लोग कृष्ण भगवान् को अवतार मानने के कारण भले ही उनके विषय में इतना ही जानकर तुष्ट हो जायँ, किन्तु एक साधारण व्यक्ति जिसमें हिन्दुओं जैसी श्रद्धा नहीं है, भगवान् कृष्ण की इस कथा से प्रभावित नहीं होगा।

हम यहाँ भगवान् कृष्ण के विषय में इस बात पर विशेष प्रकाश डालेंगे कि उनके जो सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह पुराणों में बतलाये गये हैं उनकी वास्तविकता क्या है? एक आदर्श महापुरुष के लिए भले वह सम्राट ही क्यों न हो, सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाह करना कदापि उचित नहीं माना जा सकता। इसीलिए कुछ विद्वान् तो ऐसा कहने लगे हैं या कहते हैं कि "भगवान् कृष्ण की जो पुराणों में सोलह सहस्र एक सौ आठ नारियाँ बतलायी जाती हैं वह अलंकारिक भाषा में कही हुई बात है। वास्तव में 'नारियाँ' से तात्पर्य "नाड़ियाँ" अर्थात् शरीर की "नाड़ियों" से है।

भगवान् कृष्ण योगेश्वर थे। उनका अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार था। वे अपने शरीर की प्रत्येक छोटी-बड़ी नाड़ी पर पूर्ण नियंत्रण रखते थे और पूर्ण जितेन्द्रिय थे। लोगों ने ''नाड़ियाँ'' को मनोरंजनार्थ ''नारियाँ'' कहना प्रारम्भ कर दिया और भगवान् कृष्ण को अपनी इन्द्रियों अर्थात् नाड़ियों पर पूर्ण नियंत्रण रखने के कारण उन्हें उनका पति कह दिया। (१)

किन्तु पाठक इस पुस्तक में आगे पढ़ेंगे कि पुराणों के अनुसार या इतिहास की दृष्टि से भगवान् कृष्ण की वास्तव में सोलह सहस्र एक सौ आठ धर्म पत्नियाँ थीं ही किन्तु उनकी सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ कैसे हुईं ?—यह जानना भी बड़ा मनोरंजक है। इस बात को हमने स्कन्ध नौ में ''भगवान् कृष्ण की सबसे बड़ी विजय'' पर प्रकाश डालते हुए सविस्तर बतलाया है।

इस स्कन्ध में भी हम भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों पर या सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाहों की वास्तविकता पर थोड़ा सा प्रकाश डाल रहे हैं।

परन्तु कुछ भी हो, साधारण जनता विशेषतया अनपढ़ लोग तो बस यही जानते हैं कि ''भगवान् कृष्ण बड़े रसिक महापुरुष थे। लड़कपन में उन्होंने गोपियों के साथ सुतराम रंग-रलियाँ मनायीं और जवानी में तो अपने बहुत से विवाह किये ही। हम लोग भगवान् कृष्ण के समान अपने बहुत से विवाह नहीं कर सकते हैं। हमारे लिये तो बस इतना ही पर्याप्त है कि हम गीता के उपदेशानुसार सत्य एवं सदाचार के नियमों का पालन करते हुए भगवान् कृष्ण के रसीले चरितों का गान करें और मुदित हों।''

पाठक देखेंगे कि भारत के साधारण लोगों में जो बिरहा, फगुआ, आल्हा, चनैनी गारियाँ या ऐसे ही दूसरे प्रकार के काव्यों या गानों की विधाएँ प्रचलित हैं, उनमें ग्रामीण लोग प्रतिदिन कृष्ण और गोपियों या कृष्ण और राधा से सम्बन्ध रखने वाले रसीले गाने बराबर बनाते रहते हैं और उन्हें बराबर गाते रहते हैं। जब वे अपने खेती-बारी सम्बन्धी कार्यों से अवकाश पाते हैं, तब बस भगवान् कृष्ण के रसीले चरितों का गान करते हैं और मुदित होते हैं।

भगवान् कृष्ण के विषय में उनकी सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियों के होने के साथ ही साथ और भी कई ऐसी बातें कही जाती हैं, जो उचित नहीं मानी जा सकतीं, यथा-वे गोप-बधूटियों का मार्ग रोककर उनका बेचने के लिए ले जाया जाता हुआ दही या मक्खन छीनकर खा जाया करते थे, गोपियों के घरों में रखे हुए दही और मक्खन आदि अपने नटखट गोप बालकों के साथ चुराकर खा जाते थे या नंगी होकर नहाती हुई गोप बधूटियों की साड़ियाँ हर लिया करते थे, इत्यादि-इत्यादि।

हम इस पुस्तक में इन सारी बातों पर सविस्तर प्रकाश डालेंगे, जिससे भगवान् कृष्ण का वास्तविक चरित्र लोग समझ सकें। अब पहले हम भगवान् कृष्ण के सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाहों के विषय में थोड़ा सा बतलायेंगे। इन विवाहों के सम्बन्ध में विशेषतया पाठक आगे के स्कन्ध नौ को पढ़कर जान सकते हैं।

(5)

सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाहों की वास्तविकता :

जैसा कि हम बतला चुके हैं, भगवान् कृष्ण एक सम्राट थे। उनके युग में यह नियत था कि "जब एक नरेश दूसरे नरेश को अपने अधिकार में करना चाहता था, तो इसके लिए उस नरेश के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त एक दूसरा उपाय यह भी था कि उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाये। निर्बल नरेश तो अपने से बलिष्ट नरेशों के साथ प्रायः अपनी पुत्रियों या बहनों का विवाह कर दिया करते थे। भगवान् कृष्ण के काल में स्वयम्वर की प्रथा भी प्रचलित थी। स्वयम्वरों में भाग लेने वाले नरेश भी एक सुन्दरी युवती पाने के अतिरिक्त अपनी बल-वृद्धि या राज्य-वृद्धि के लिए भी स्वयंवरों में भाग लिया करते थे।

पाठक स्कन्ध पाँच में पढ़ेंगे कि भगवान् कृष्ण के जो स्वयम्वर आदि के द्वारा मुख्य आठ विवाह हुए, जिनमें प्राप्त भगवान् की पत्नियाँ आठ पटरानियाँ कहलायीं। किन्तु उनके जो सोलह सहस्र एक सौ विवाह हुए उसकी कथा अति संक्षेप में निम्नांकित है—

भगवान् कृष्ण के काल में भारत के आधुनिक असम प्रदेश में स्थित प्राग्यज्योतिषपुर में एक चीनी नरेश ने अपने एक दृढ़ एवं बलिष्ट राज्य की स्थापना कर डाली। आगे चलकर वह एक सम्राट जैसा बलिष्ट हो गया और भौमासुर या नरकासुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

अब भौमासुर भारतवर्ष के सभी छोटे-बड़े नरेशों पर डाका डालने लगा। उसने भारतवर्ष के विभिन्न भागों से सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियों को हर कर अपने हर्म्य (रनिवास) में रख लिया और उनके साथ 'रंग-रलियाँ' या विहार करने लगा। इन सुन्दरियों को वह प्रत्येक प्रकार की भोग-विलास की सामग्रियों से बराबर तुष्ट रखता था।

भौमासुर के अपने दृढ़तम दुर्ग में सर्वदा छिपे रहने के कारण कोई भारतीय नरेश उसका दमन नहीं कर पाता था। अन्त में सभी भारतीय नरेशों ने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि "भगवन्, आप ही भौमासुर से हमारी रक्षा करने में समर्थ हैं, अतः आप ही हमारी रक्षा करें।"

भगवान् कृष्ण ने भौमासुर के साथ युद्ध किया और बड़ी कठिनाई से अन्त में उसका वध कर डाला। जब भगवान् कृष्ण भौमासुर के मीलों लम्बे दुर्ग में घूमने लगे तो उन्हें उसके द्वारा हरी हुई सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियाँ मिली। उन्होंने भगवान् कृष्ण के समक्ष उपस्थित होकर करबद्ध प्रार्थना की कि, "भगवन्, अब तक तो हम भौमासुर के अधीन सम्राज्ञियों के समान प्रत्येक प्रकार की भोग-विलास की वस्तुओं का उपभोग करती हुई रह रहीं थी, किन्तु अब हम कहाँ जाएँ? हम अपने माता-पिता के घरों को तो लौट नहीं सकती हैं। हमें ऐसे युवक भी नहीं मिलेंगे, जो हमें भौमासुर के समान ही सुख-सामग्रियाँ प्रदान कर सकें। अतः हमारा विनम्र निवेदन है कि अब आप ही हमें अपने हर्म्य में शरण देकर अनुगृहीत करें, अन्यथा हम योगिनियाँ बनकर आपका नाम रटते हुए संसार में भ्रमण करेंगी।

भगवान् कृष्ण इन सोलह सहस्र एक सौ सुन्दर युवतियों की प्रार्थना को सुनकर द्रवित हो गये। बहुत सोच-विचार के पश्चात् विवश होकर उन्होंने उन सुन्दरियों को अपने हृदय में ही स्थान देना उचित समझा।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ पत्नियाँ और हो गयीं। (इस प्रसंग में पाठक विशेष स्कन्ध नौ पढ़कर जान सकते हैं)

भगवान् कृष्ण के विषय में जो यह बात कही जाती है कि वे बाल्यावस्था में गोप-युवतियों से उनका दूध-दही अपने नटखट साथियों के साथ मार्ग रोककर छीन लिया करते थे और उसे खा-पी जाते थे या जब गोप-युवतियाँ यमुना जी में नंगी होकर स्नान करती थीं तो उनकी साड़ियाँ हर लेते थे इत्यादि। भगवान् कृष्ण ऐसा क्यों करते थे? इस पर इस पुस्तक में स्कन्ध चार में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ हम संक्षेप में इस सम्बन्ध में भी थोड़ा-सा बतला देते हैं।

गोपियों का दूध-दही और मक्खन छीनना :

इसी प्रकार भगवान् कृष्ण जो गोप-युवतियों का मार्ग रोककर उनका दही और मक्खन अपने नटखट साथियों के साथ छीनकर खा-पी जाते थे, उसका कारण भी बहुत उचित था। बात यह थी कि भगवान् कृष्ण गोपों को यह बराबर सिखलाया करते थे कि तुम लोग बेकार पड़ी हुई वनों या समधानों की भूमि पर गायों के चराने के अतिरिक्त कृषि भी किया करो और अपने दही या मक्खन आदि को अन्न के लिये न बेचकर उसे स्वयं खा-पी जाया करो, जिससे हृष्ट-पुष्ट हो जाओ। घर की स्त्रियाँ भी चरखा कातकर सूत से कपड़े तैयार करके पर्याप्त कपड़े पहना करें और वे दूध-दही लेकर नगरों या दूसरे ग्रामों में बेचने के लिए न जाया करें। जो लड़कियाँ या महिलायें भगवान् कृष्ण का कहना नहीं मानती थीं और बेचने के लिए दूध-दही आदि को नगरों या ग्रामों में ले जाया करती थीं, उन्हें दूध-दही बेचने के काम से विरत करने के लिए भगवान् कृष्ण अपने नटखट गोप बालकों के साथ उनका दूध-दही और मक्खन छीनकर खा-पी जाया करते थे, अतः भगवान् कृष्ण द्वारा दूध-दही छीनने के इस कार्य को भी अनुचित नहीं कहा जा सकता।

ऐसे ही अधिक वस्त्र न होने के कारण गोपियाँ प्रायः एक ही साड़ी धारण करती थीं। इसी से वे नंगी होकर यमुना जी में नहाया करती थीं। वे भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार स्वयं चरखे से सूत कातकर उससे अपने लिए एक से अधिक साड़ियाँ नहीं बनवाती थीं। भगवान् कृष्ण ने उनको चरखा कातने के लिए विवश करने के लिए ही एक बार नंगी होकर यमुना जी में नहाती हुई गोप युवतियों के वस्त्रों को हर लिया और उन्हें घंटों जल में खड़ा रहकर जड़ाने के लिए विवश किया। भगवान् के इस कार्य को भी अनुचित नहीं कहा जा सकता।

स्कन्ध 'दो'

भगवान् कृष्ण की जन्म स्थली एवं उनके पितर इत्यादि

प्राक्कथन :

इस स्कन्ध में शौरसेन राज्य का परिचय दिया गया है तथा उसकी संस्कृति एवं सभ्यता पर भी प्रकाश डाला गया है। फिर यह बतलाया गया है कि भगवान् कृष्ण के पिता कौन थे और उनका विवाह कैसे और किसके साथ हुआ?

फिर आगे बतलाया गया है कि किस प्रकार शौरसेन के नरेश कंस के कारागार में शिशु कृष्ण का जन्म हुआ और कैसे उन्हें कारागार में से निकालकर गोकुल नामक ग्राम के श्रीनन्द की सद्योजात पुत्री से उनकी अदला-बदली की गयी।

आगे शिशु कृष्ण पर आपतित आपदाओं एवं उनकी देवयोग से रक्षा की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् शिशु कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया गया है। स्कन्ध के अन्तिम अध्याय में कृष्ण के बड़े भाई श्री बलराम जी का वर्णन किया गया है, जिन्हें बलदेव जी या दाऊ भी कहा जाता है।

अध्याय-एक

भगवान् कृष्ण की जन्म स्थली एवं उनके माता-पिता :

भगवान् कृष्ण का जन्म ईसा के जन्म से बत्तीस सौ वर्ष पूर्व द्वापरयुग के अन्तिम दिनों में 'शौरसेन' नामक राज्य की राजधानी मथुरा में हुआ था। यह राज्य यमुना नदी के तट पर स्थित था।

त्रेतायुगीन महाराज ययाति के पाँच पुत्रों में से सबसे बड़े थे, महाराज यदु। महाराज ययाति ने अपना आदेश न मानने के कारण अपने पाँचों पुत्रों में से सबसे छोटे पुत्र महाराज पुरु को छोड़कर शेष चार को देश निकाला दे दिया था। इन चार पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ थे महाराज यदु। देश निकाला के समय महाराज यदु ने अपने पिता के राज्य साप्त सैन्धव देश से निकलकर उसके पूर्व में स्थित यमुनाजी के तट पर अपने एक छोटे से राज्य की स्थापना कर डाली। महाराज यदु का यही राज्य द्वापरयुग में शौरसेन के नाम से विख्यात हुआ और उस समय उसकी राजधानी मथुरा नामक नगरी थी।

शौरसेन राज्य :

भगवान् कृष्ण के काल में शौरसेन राज्य के नरेश प्रसिद्ध यदुवंशी महाराज उग्रसेन थे। महाराज उग्रसेन अपने भाई श्री देवक एवं अपने सामन्त नरेशों के साथ मथुरा में रहते थे। यद्यपि महाराज उग्रसेन के सामन्त नरेश मथुरा ही में रहते थे, किन्तु उनके राज्य शौरसेन के विभिन्न ग्राम थे, जहाँ वे प्रायः प्रशासन की देख-रेख के प्रसंग में आया-जाया करते थे। शौरसेन एक गोप प्रधान राज्य था, अर्थात् इस राज्य में गायों को ही पालने वाली

एक जाति रहती थी, जिसे गोप कहा जाता था और जिसे बाद में आभीर या अहीर भी कहा जाने लगा। प्रत्येक ग्राम का शासक एक गोप होता था, जिसे नन्द कहा जाता था। प्रत्येक नन्द के एक या अधिक उपनन्द होते थे।

नन्दों और उपनन्दों का मुख्य व्यवसाय गोपालन ही था। एक नन्द के अधीन लाखों गायें होती थीं। इन गायों की देख-भाल उपनन्द करते थे। गोपालन से जो आय प्राप्त होती थी, उसका एक अंश नन्दों के द्वारा मथुरा में स्थित सम्बद्ध सामन्त नरेश को समर्पित कर दिया जाता था और सामन्त नरेश उसे कर के रूप में शौरसेन के नरेश को समर्पित कर दिया करते थे। नन्द लोग पश्चात् थोड़ी बहुत कृषि भी करने लग गये थे।

शौरसेनियों की संस्कृति और सभ्यता :

यद्यपि यदुवंशी और कुरुवंशी दोनों ही महाराज ययाति के ही वंशज थे, किन्तु यदुवंशियों की संस्कृति एवं सभ्यता कुछ भिन्न थी। शौरसेनी बड़े स्वतंत्र प्रकृति के होते थे, उनमें अन्य आर्यों जैसी लज्जाशीलता प्रायः नहीं मिलती थी। शौरसेन के यादव युवक और युवतियाँ एक-दूसरे से बिना झिझक मिला करते थे एवं परस्पर नाच-गा भी सकते थे, ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक यूरोप के युवक और युवती व्यवहार करते हैं।

अपरञ्च यद्यपि यज्ञों को लोग पुण्य कर्तव्य मानते थे, फिर भी साधारण शौरसेनी यादव यज्ञ कम ही करते कराते थे। शौरसेन की भाषा भी अपने ढंग की थी। संस्कृत भाषा के अपभ्रंशों में 'शौरसेनी' नामक अपभ्रंश प्रसिद्ध ही है। 'शौरसेनी' ही पश्चात् व्रजभाषा कहलायी।

गोकुल के श्रीनन्द

शौरसेन राज्य के नन्दों में से दो नन्दों के नाम विख्यात हैं। उनमें से प्रथम का नाम था श्री नन्दजी और दूसरे का नाम था वृषभानु।

श्रीनन्द गोकुल ग्राम के आसपास के ग्रामों के नरेश थे। महाराज वृषभानु जिस ग्राम के नन्द थे, उसका नाम हमें ज्ञात नहीं है किन्तु पश्चात् जब दैवी आपदाओं के कारण यमुनापार के इन गाँवों को छोड़ दिया गया और वृन्दावन के महावन में जब भगवान् कृष्ण ने व्रजमण्डल को बसाया तो गोकुल गाँव आधुनिक नन्द गाँव में एवं महाराज वृषभानु नामक नन्द का गाँव आधुनिक बरसाने (बृहत्सानु) नामक गाँव में परिणत हो गया। ये दोनों गाँव आज भी व्रजमण्डल में विद्यमान हैं।

व्रजमण्डल के विषय में कम ही लोगों को ज्ञात है कि यह कैसे बसा? और इसका व्रज-मण्डल नाम भी क्यों पड़ा? हमने यह बात आगे स्कन्ध तीन के अध्याय दो में 'व्रजमण्डल' शीर्षक के नीचे बतलायी है।

पाठक आगे पढ़ेंगे कि गोकुल ग्राम के श्रीनन्द और उनकी धर्मपत्नी यशोदा जी के यहाँ ही भगवान् कृष्ण धर्मपुत्र के रूप में पले थे तथा वृषभानु नामक नन्दजी की पुत्री राधिका जी भगवान् कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेयसी थीं।

श्री वसुदेव जी (शौरसेन राज्य के एक सामन्त नरेश) :

यहाँ हम श्री वसुदेव जी के विषय में कुछ विशेष बतला दें, क्योंकि श्री वसुदेव जी और देवकी के ही आवतारिक पुत्र हमारे चरित नायक भगवान् श्रीकृष्ण हुए।

श्री वसुदेव जी के राज्य गोकुल एवं उसके आस-पास के कुछ छोटे-छोटे ग्राम थे जो मथुरा से यमुना नदी के दूसरे पार स्थित थे। श्री वसुदेव जी की ओर से उनके गोकुल नामक गाँवों में जो प्रधान नन्द शासन करते थे, उनका वास्तविक नाम पुराणों में नहीं दिया गया है, वरन् उन्हें श्रीनन्द ही लिख दिया गया है।

पुराणों के अनुसार श्री वसुदेव जी की कुल तेरह रानियाँ थीं, जिनमें देवकी और रोहिणी ये दो नाम बहुत प्रसिद्ध थे। उन दिनों में धनिक पुरुषों के बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। हमारे चरित नायक भगवान् कृष्ण देवकी जी के ही पुत्र थे। श्री रोहिणी के पुत्र का नाम बलराम या बलदेव था। उन्हें शौरसेनी भाषा में दाऊजी भी कहा गया है। श्री बलराम जी भगवान् कृष्ण से ज्येष्ठ थे अतः उनके बड़े भाई थे।

श्रीकृष्ण और बलराम के विषय में पाठक आगे पढ़ेंगे ही। हम यहाँ पहले श्री वसुदेव जी की पाँच बहनों के विषय में कुछ विशेष बतला दें, तब उनके विवाहों की चर्चा करके श्री देवकी के साथ श्री वसुदेव जी के विवाह की चर्चा करेंगे।

श्री वसुदेव जी की बहनें :

श्री वसुदेव जी की पांच बहनें थीं, इनमें कुन्ती का विवाह कुरुदेश के सम्राट महाराज पाण्डु के साथ हुआ था। श्री युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इन्हीं कुन्ती के पुत्र थे।

कुन्ती की दूसरी बहन "श्रुतदेवा" का विवाह करुष देश के अधिपति वृद्धशर्मा के साथ हुआ था। वृद्धाशर्मा का पुत्र दत्तवक्त्र बड़ा ही वीर योद्धा था, किन्तु बड़े तामस स्वभाव का था। इसी से पुराणों में इसे हिरण्याक्ष का अवतार कहा गया है। यह कंस द्वारा संघठित उच्छृंखल नरेशों के संघ का महत्त्वपूर्ण सदस्य था और भगवान् कृष्ण का प्रबल विरोधी था।

वसुदेव जी की तीसरी बहन का नाम श्रुतकीर्ति था, जिनका विवाह केकय नरेश धृष्टकेतु के साथ हुथा था, जिसके सन्तर्दनादि पाँच पुत्र हुए। श्रुतकीर्ति की एक सपत्नी भी थी, जिसके भी पाँच ही पुत्र थे।

पाठक आगे पढ़ेंगे कि महाभारत युद्ध में सन्तर्दनादि तो पाण्डव पक्ष से लड़े थे, जबकि उनके पाँचों सौतेले भाई कौरव पक्ष से लड़े थे।

वसुदेव जी की चौथी बहन राजान्धि देवी थीं, जिनका विवाह अवन्ती राज जयसेन के साथ हुआ था। महाराज जयसेन के पुत्र विन्द और अनुविन्द थे, जो महाराज दुर्योधन के पक्षपाती थे और महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष से लड़े थे।

वसुदेव जी की पाँचवीं बहन का नाम श्रुतश्रवा था, जिनका विवाह चेदिराज दमघोष के साथ हुआ था, जिनका पुत्र शिशुपाल था। पुराणों में कहा गया है कि शिशुपाल

हिरण्यकशिपु का अवतार था और भगवान् कृष्ण का प्रबल विरोधी था एवं कंस द्वारा संघटित उच्छृंखल नरेशों के संघ का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य था।

श्री वसुदेव जी का देवकी के साथ विवाह :

अब यहीं से हमारी कथा का मुख्य अंश प्रारम्भ होता है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि उग्रसेन अपने भाई देवक और सामन्त नरेशों श्री वसुदेव जी आदि के साथ मथुरा में रहते थे। वे धर्मानुसार शासन करते थे, जिससे प्रजा उनके राज्य में बहुत सुखी थी। श्री उग्रसेन के भाई श्री देवक जी भी उन्हीं के समान बड़े सात्विक महापुरुष थे। श्री उग्रसेन के नौ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़ा कंस था तथा उनके भाई देवक के एक ही पुत्री हुई, जिसका नाम देवकी था।

यतः महाराज उग्रसेन के सामन्त नरेश श्री वसुदेव जी उन्हीं के समान बड़े धर्मात्मा थे, अतः श्री देवक जी ने अपनी पुत्री देवकी का विवाह श्री वसुदेव जी के साथ करना उपयुक्त समझा। विवाह का होना निश्चित हो गया ।

अब पहले हम यहाँ महाराज उग्रसेन के पुत्र कंस के विषय में कुछ बतला देना आवश्यक समझते हैं, जो अन्त में श्री वसुदेव जी और देवकी का मुख्य शत्रु सिद्ध हुआ।

श्री उग्रसेन का पुत्र कंस :

श्री उग्रसेन जी का पुत्र कंस बचपन ही से बड़ा दुष्ट प्रकृति का पुरुष था। उस काल में न जाने कौन-सी हवा बह चली थी कि उस काल के नरेश प्रायः उच्छृंखल होने लग गये थे, जिनका सिद्धान्त था कि प्रजा से अधिक से अधिक कर लेकर 'खाओ-पीयो और मौज उड़ाओ'। कंस इस सिद्धान्त का मुख्य पोषक था। उसने उस काल के अपने ही जैसे विचार वाले उच्छृंखल राजकुमारों का एक संघ ही स्थापित कर रखा था किन्तु कंस का अपने पिता उग्रसेन और उनके भाई देवक तथा सामन्त नरेश वसुदेव जी आदि के सामने कुछ बस नहीं चलता था।

कंस ने अपनी यह योजना बना ली थी कि "अवसर पाते ही मैं अपने साथियों के साथ अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना लूँगा और "खाओ-पीयो और मौज उड़ाओ" के सिद्धान्त के अनुसार रहने लगूँगा।

श्री देवकी के साथ वसुदेव जी का विवाह :

जब उग्रसेन जी के भाई श्री देवक जी ने अपनी पुत्री देवकी का विवाह श्री वसुदेव जी के साथ करना निश्चित कर दिया, तब शौरसेन के प्रजाजनों को बड़ी प्रसन्नता हुई। देवकी के विवाह के अवसर पर एकत्र हुए प्रजाजन यत्र-तत्र उत्सव मनाते हुए कह रहे थे कि, 'अब कंस अपनी दुष्ट योजना में कदापि सफल नहीं होगा। जब देवकी के गर्भ से महाराज वसुदेव के कोई पुत्र उत्पन्न होगा तो महाराज उग्रसेन, महाराज देवक और महाराज वसुदेव जी का बल बहुत बढ़ जायेगा। देवकी का पुत्र कंस का प्रतिरोध करने में अवश्य ही समर्थ होगा।

कंस ने जब प्रजाजनों को ऐसी बातें करते तथा उन्हें हर्ष मनाते हुए देखा तो वह बहुत डर गया और उसे विश्वास हो गया कि, निश्चय ही श्री वसुदेव जी का देवकी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह शौरसेन के प्रजाजनों की सहायता से अवश्य ही मुझे दबाने में समर्थ होगा, ऐसा ही ज्योतिषी लोग भी मुझे बतला चुके हैं।

अब एक ओर जहाँ महाराज उग्रसेन और देवक विवाह सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त थे, वहीं कंस अपने साथी दुष्ट युवक राजकुमारों को संघटित कर रहा था और उसके ये सभी साथी अपने छोटे-छोटे सैनिक गुल्मों के साथ विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए थे।

अन्तोगत्वा जब श्री देवकी का श्री वसुदेव जी के साथ विवाह सम्पन्न हो गया और देवकी की विदायी की जाने लगी, तो इस अवसर पर महाराज उग्रसेन और देवक के कुछ परिजनों के साथ ही कंस और उसके सभी दुष्ट राजकुमार भी अपने सैनिक गुल्मों के साथ विदायी की शोभा यात्रा में आगे बढ़ रहे थे।

इस अवसर पर कंस ने सोचा कि "इस समय मेरे पिता जी सर्वथा असुरक्षित हैं। यह बड़ा ही अच्छा अवसर है। यदि इसी समय मैं देवकी को मार डालूँ और अपने पिता जी को बन्दी बना लूँ तो मेरा सब काम बन जायेगा। यदि आगे युद्ध भी करना पड़ा तो उसमें मुझे अपने राजकुमार साथियों की सहायता अवश्य मिलेगी।" बस उसने तुरन्त अपने पिता उग्रसेन जी को बन्दी बना लिया और देवकी को मार डालने के लिए उद्यत हुआ।

ऐसी विषम परिस्थिति के आपतित हो जाने पर श्री वसुदेव जी ने कंस से कहा, राजन्! यदि आप सद्योविवाहिता देवकी को मार डालेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? यदि आपको इस बात का भय है कि, "देवकी से जो मेरा पुत्र उत्पन्न होगा वह आपको दबाने में समर्थ होगा, जैसा कि ज्योतिषी लोग आपको बतला चुके हैं तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि देवकी जब गर्भवती होगी तो मैं अपने को तथा उसे आपको समर्पित कर दिया करुँगा और आप हम दोनों को अपने कारागार में तब तक बन्द रखेंगे, जब तक देवकी से कोई पुत्र उत्पन्न न हो जाय और पुत्र के उत्पन्न होने पर आप उसे तुरन्त मार डाला करेंगे। इस प्रकार आपकी देवकी से जात किसी पुत्र द्वारा प्रतिरोध की आशंका ही समाप्त हो जायेगी। आप इस समय देवकी को छोड़ दीजिये। कंस ने भी सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए देवकी का वध नहीं किया किन्तु उसने अपने पिता उग्रसेन जी को बन्दीगृह में डाल दिया और भ्रष्ट सैनिकों की सहायता से शौरसेन पर राज्य करने लगा।

कंस के कारागार में वसुदेव और देवकी :

अब प्रतिबार ऐसा किया जाने लगा कि जब देवकी के गर्भ से कोई सन्तति उत्पन्न होने को होती थी तो वसुदेव और देवकी दोनों सन्तति के उत्पन्न होने तक कंस के कारागार में बन्द रहते थे और जब कारागार में देवकी के गर्भ से कोई पुत्र उत्पन्न होता था तो कंस उसे मार डाला करता था।

अध्याय-दो 'क'

भगवान् कृष्ण का श्री देवकी के गर्भ में आना और उनका गोकुल पहुँचाया जाना :

इस प्रकार जब कंस ने देवकी के गर्भ से जात उसके सात पुत्रों को मार डाला और जब उसका आठवाँ पुत्र गर्भ में आया, जो हमारे चरित नायक भगवान् श्रीकृष्ण ही थे, तो श्री वसुदेव जी ने इस बार बड़ी सतर्कता बरती।

श्री वसुदेव जी के मधुर स्वभाव के कारण कंस के कारागार के अध्यक्ष आदि उनसे बड़ी सहानुभूति रखते थे। अतः श्रीकृष्ण का जन्म होते ही उन्होंने कंस को इसकी सूचना नहीं दी, वरन् श्री वसुदेव जी की हथकड़ी, बेड़ी भी कुछ समय के लिए खोल दी। फलतः वसुदेव जी शिशु कृष्ण को एक सूप में रखकर उसे अपने सिर पर रखे हुए यमुना जी में हलते हुए और पार करते हुए गोकुल के श्रीनन्द के घर पहुँचे और उनकी पत्नी यशोदा की सद्योजात पुत्री से शिशु कृष्ण को बदलकर उसे कारागार में लाकर देवकी की गोद में रख दिया। सारी बातें इस गुप्त रीति से हुई कि उन्हें कोई भी नहीं जान सका। भला कौन कल्पना कर सकता था कि "श्री वसुदेव जी जिनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं, वे देवकी के सद्योजात शिशु को अपने सिर पर उठाकर उसे यमुना नदी को हलकर पार करते हुए गोकुल में पहुँचा सके होंगे और फिर वहाँ से नन्द-पत्नी यशोदा के सद्योजात शिशु को लाकर कंस के कारागार में पहुँचकर उसे देवकी की गोद में रख सके होंगे।"

जब यशोदा जी की पुत्री 'देवकी की गोद में पहुँचकर रोने लगी, तब जेल के अधिकारियों ने दौड़कर कंस को यह सूचना दी कि देवकी के गर्भ से कारागार में एक शिशु उत्पन्न हुआ है।' कंस यह समाचार सुनकर अपने प्रासाद से दौड़ता हुआ कारागार में पहुँचा और देवकी की गोद से यशोदा जी की पुत्री को छीनकर उसका वध कर डाला एवं वसुदेव जी और देवकी को कारागार से मुक्त कर दिया।

इधर यशोदा जी को जब श्री देवकी का सद्योजात पुत्र·कृष्ण मिला तो उसके सौन्दर्य पर नन्द जी और यशोदा दोनों इतने मुग्ध हो गये कि उन्हें इस बात की चिन्ता ही नहीं रही कि उनकी पुत्री का कंस ने कैसे वध किया होगा। अब नन्द जी के घर पर पुत्र जन्मोत्सव मनाया जाने लगा। नन्द जी ने भी यशोदा जी के गर्भ से अपनी कन्या के जन्मने की बात को बहुत गुप्त रखा था और शिशुओं की उपर्युक्त अदला-बदली हो जाने पर यह बात प्रकट की कि "यशोदा के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ है।"

अध्याय-दो 'ख'

शिशु कृष्ण के सम्बन्ध में कंस का सन्देह (शिशु कृष्ण पर आपदाएँ और दैवयोग से उनकी रक्षा) :

यद्यपि शिशु कृष्ण के जन्म की बात बहुत ही गुप्त रखी गयी थी, फिर भी कंस को यह सन्देह होने लग गया था कि उसने जेल में जिस शिशु को देवकी का मानकर उसका वध किया है, वह स्यात् देवकी का नहीं था, किन्तु वह यह नहीं समझ पा रहा था कि कैसे हथकड़ी-बेड़ी पहने हुए वसुदेव जी अपने वास्तविक पुत्र को कहीं अन्यत्र पहुँचा आये होंगे और उसके स्थान में एक दूसरा सद्योजात शिशु पा सके होंगे तथा उसे कारागार में पहुँचा सके होंगे?''

धीरे-धीरे कंस गोकुल के श्रीनन्द के पुत्र जिसका नाम उन्होंने कृष्ण रखा था, उस पर वह श्री वसुदेव, देवकी का ही पुत्र होने का सन्देह करने लगा और उसके वध के लिए परोक्ष उपाय करने लगा। शिशु कृष्ण के वध का प्रत्यक्ष उपाय वह इसलिए नहीं करता था कि "जनता उससे पूँछ सकती थी कि तुम किस कारण शिशु कृष्ण की हत्या का प्रयत्न कर रहे हो और किस प्रमाण पर श्रीनन्द के घर कृष्ण को वसुदेव-देवकी का पुत्र समझ रहे हों।

शिशु कृष्ण को मार डालने के लिए कंस के प्रयत्न :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कंस को यह सन्देह होने लगा था कि गोकुल के नन्द का पुत्र कृष्ण संभवतः श्री वसुदेव जी और देवकी का ही पुत्र है। अतः वह कृष्ण को मार डालने के उपाय सोचने लगा।

पूतना का मरण :

कंस ने शौरसेन में अपनी सहायता के लिए कई छोटे-छोटे दुष्ट नरेशों को अपना मन्त्री बना लिया था। पसपशों (जासूसों) की एक बड़ी मण्डली भी वह अपने साथ रखता था, जिसमें महिलाएँ भी होती थीं। पूतना नामक एक युवती कंस के उपर्युक्त जासूसों में से थी। कंस ने पूतना से अपने हृदय की बात कही और उसको आदेश दिया कि तुम एक सुन्दरी सद्यो विवाहिता युवती का रूप धारण करके गोकुल के श्रीनन्द के घर जाओ और अपने स्तनों में भयंकर विष पोत लो। जब तुम यशोदा जी के पास बैठना तो उनके शिशु को माँगकर उसे दुलारते हुए अपना विष पोता हुआ स्तन उसके मुँह में डाल देना, बस कृष्ण तुरन्त मर जायेगा।

पूतना कंस के आदेश पर तुरन्त यशोदा जी के घर पहुँच गयी किन्तु उनके पास बैठकर उनके शिशु को अपनी गोद में उठाने ही वाली थी कि सहसा वह चेतना-शून्य

(बेहोश) हो गयी। बात यह थी कि उसने अपने स्तनों में जो विष पोत रखा था, वह इतना तीव्र था कि उसका प्रभाव स्वयं उसके शरीर पर ही पड़ गया और वह जब शिशु कृष्ण को अपनी गोद में उठाने ही वाली थी, उसी समय विष के प्रभाव से वह चेतना शून्य हो गयी इस पर गोकुल की स्त्रियाँ दौड़ी हुई पूतना के आस-पास एकत्र हो गयीं और उससे पूछने लगीं कि तुम चेतनाहीन कैसे हो गयी। अन्त में सारी बात खुल गयी। सबको ज्ञात हो गया कि पूतना शिशु कृष्ण को मार डालने के लिए अपने स्तनों में भयंकर विष पोतकर यशोदा जी के पास आयी थी, किन्तु भयंकर विष के प्रभाव से वह स्वयं ही चेतना-शून्य हो गयी और अन्ततोगत्वा मर गयी।

शिशु कृष्ण को मार डालने के लिए ऐसे बहुत से उपाय कंस ने किये, किन्तु वह उनमें सफल नहीं हुआ।

शिशु कृष्ण पर आपदाएँ और उनकी दैवयोग से रक्षा :

गोकुल में शिशु कृष्ण के साथ ऐसे ही कई और दुष्काण्ड घटित हुए, किन्तु देव योग से प्रत्येक से उसकी बराबर रक्षा होती रही। ऐसी आपदाओं में से हम यहाँ पहले "तृणावर्त की कथा" लिख रहे हैं।

तृणावर्त की कथा :

महाभारत काल में कुछ ऐसे भी दैत्याकार पक्षी मिलते थे, जो छोटे-छोटे शिशुओं को भी अपनी चोंच में उठाकर वनों में उड़ जाते थे और फिर उन्हें वहीं मारकर खा जाते थे। लोग ऐसे पक्षियों को तृणावर्त कहते थे, जिसका कारण नीचे बतलाया गया हैं किन्तु ऐसे दैत्याकार पक्षी प्रायः नहीं के बराबर थे। ऐसे ही एक दिन एक दैत्याकार पक्षी शिशु कृष्ण को अपनी चांच में उठाकर आकाश में ले उड़ा किन्तु वह शिशु कृष्ण को मार नहीं सका। सहसा शिशु कृष्ण को कुछ ऐसा सूझ गया कि उसने अपनी बाहों में उस पक्षी के गले को दबोच लिया और इतने बल से दबोचा कि उस पक्षी का उड़ना बन्द हो गया एवं वह धीरे-धीरे भूमि पर गिरने लगा तथा शिशु कृष्ण उसकी पीठ पर बैठे हुए हँसते हुए भूमि पर गिरे, जिससे उन्हें कोई चोट भी नहीं लगी।

यह देखकर माता यशोदा आदि एवं गोकुल की गोपियाँ बहुत ही प्रसन्न होकर उत्सव मनाने लगीं और शिशु कृष्ण को एक अलौकिक शिशु समझने लगीं।

तृणावर्त नाम का कारण :

उस युग के ऐसे दैत्याकार पक्षियों को लोग "तृणावर्त" कहा करते थे, क्योंकि जब वे भूमि के समीप उड़ते थे, तो उससे भूमि पर एक बवण्डर (चक्रवात) सा उत्पन्न हो जाता था और भूमि पर पड़े हुए तृण तथा पत्तियाँ भी वायु में चक्कर काटती हुई उड़ने लगती थीं।

कैसे शिशु कृष्ण को तृणावर्त के गला दबोचने की बात सूझी? इसका कारण

(15)

मनोवैज्ञानिक है। हमें मनोवैज्ञानिक शास्त्र बतलाता है कि कभी-कभी किसी मनुष्य या बालक व शिशु को भी ऐसी बात सहसा सूझ जाती है, जिससे उसके प्राणों पर आपतित संकट टल जाता है।

कुछ पुराणों में तृणावर्त की कथा इस प्रकार लिखी है–

एक दिन गोकुल में एक बड़ा भारी बवण्डर (चक्रवात) उठा। वह चक्रवात इतना भयंकर था कि भूमि पर पड़े हुए तृणों, पत्तों आदि के साथ ही साथ शिशु कृष्ण भी आकाश में उड़ गये। जब बवण्डर (चक्रवात) शान्त हुआ, तब कृष्ण भूमि पर गिर पड़े, किन्तु उनको कोई चोट नहीं आयी। इसका कारण भी संयोग ही है। कभी-कभी ऐसा होता है कि चार-पाँच भूमों (मंजिलों) वाले महालयों के झरोखों में से कोई शिशु नीचे भूमि पर गिर पड़ता है, किन्तु उसे चोट नहीं लगती है।

ऐसे भी उदाहरण मिले हैं कि साठ मील प्रति घंटा की चाल से दौड़ती हुई ट्रेन में से कोई बच्चा बाहर गिर पड़ा, किन्तु उसे तनिक भी चोट नहीं आयी। इस प्रकार दैव रक्षित शिशुओं के विषय में जन साधारण की धारणा है कि ऐसे शिशु अवश्य आगे चलकर महापुरुष होते हैं।

बच्चों तक को उड़ा ले जाने वाला चक्रवात :

ऊपर हमने जो यह कहा है कि पुराणों के अनुसार गोकुल ग्राम में एक ऐसा चक्रवात आविर्भूत हुआ था कि उसमें शिशु कृष्ण भी उड़ गये थे, किन्तु चक्रवात के शमन के पश्चात् शिशु कृष्ण भूमि पर गिर पड़े, फिर भी उन्हें कोई चोट नहीं आयी। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या ऐसा चक्रवात संभव था या है? इसका उत्तर वैज्ञानिक लोग यों देते हैं,-''कभी-कभी अद्‌भुत प्रकार के चक्रवात भूमि पर भी और समुद्र में भी उत्पन्न हो जाते हैं, जो शिशुओं तक को आकाश में उड़ा ले जाते हैं एवं समुद्र में जहाजों तक को भी बहुत ऊँचाई तक ऊपर उठाकर पुनः जल के तल पर पटक देते हैं, किन्तु ऐसे चक्रवात कुछ हेक्टेयरों के क्षेत्रफल में घटित होते हैं एवं बहुत ही कम घटित होते हैं। आधुनिक काल में नाविकों ने ऐसे लंगर तैयार कर रखे हैं, जो समुद्र में ऐसे चक्रवातों के उत्पन्न हो जाने पर जहाजों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

शकटासुर :

ऊपर हमने पूतना और तृणावर्त से शिशु कृष्ण की रक्षा की बात कही है। पुराणों में ऐसी और भी कई मनोरंजक कथाएँ हैं, जिनको हम यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं समझते हैं। उदाहरण के लिए शकटासुर की कथा को लीजिए।

कथा स्वल्प में इतनी सी है कि एक बार शिशु कृष्ण एक शकट के नीचे सो रहे थे, सहसा शकट उलट गया, किन्तु शिशु कृष्ण को कोई चोट नहीं आयी। पुराणों में इस कथा को महिमा मण्डित करने के लिए उस शकट को ''शकटासुर'' नामक एक राक्षस लिखा है, किन्तु ये सब बातें मान्य नहीं हैं।

अध्याय-तीन

शिशु कृष्ण की बाल लीलाएँ :

शिशु कृष्ण अपनी बाल लीलाओं से बाबा नन्द, माता यशोदा तथा गोकुल की गोपियों का मन मोह लिया करते थे। वे कभी यशोदा मैया से कहते–"मैया मेरे लिए आकाश में चमकता हुआ चाँद लाकर मेरी गोद में रख दें, मैं उससे खेलूँगा।" इस पर माता यशोदा उनके समक्ष एक कठौती में जल भरकर रख देती थीं। जल में जब चाँद की छाया पड़ती थी, तो उसे शिशु कृष्ण देखकर प्रसन्नता से नाचने-गाने लगते और माता यशोदा की प्रशंसा करते हुए कहते,–"मैया ने मेरे लिए चाँद को आकाश से लाकर उसे मेरे सामने रख दिया है।"

कभी जब घर में रोटी समाप्त हो गयी होती, तब वे माखन रोटी के लिए मचलते और जब यशोदा जी कहतीं कि 'यदुनाथ, पेट भर मक्खन खा ले, रोटी इस समय नहीं है तो शिशु कृष्ण भूमि पर लोटने लगते और बहुत बहलाने-फुसलाने पर भी नहीं मानते थे।

कभी भौंरा और भौंरा को नचाने वाली चकडोरी के लिए मचलते, कभी जब दूध समाप्त हो गया होता तो दूध के लिए मचलते और कहते,–"मैया, मुझे चषक (कटोरे) में दूध दे।" जब यशोदा जी कहतीं–"यदुनाथ, अब जब चर कर सन्ध्या को गायें वन से आ जायेंगी, तो तुझे रात में दूध मिलेगा, अभी मक्खन खा ले,–"इस पर बालक कृष्ण पूछते,–"मैया रात कब होगी।" यशोदा जी कहतीं,–"जब अन्धकार हो जायेगा तब न।" इस पर कृष्ण आँखें मूँद करके कहते,–"मैया, ले अब अन्धकार हो गया, मुझे दूध दे।" इस पर यशोदा जी हँसती हुई मचलते हुए कृष्ण को अपनी गोद में उठाकर उसे चूमने लगतीं और बहलाने लगतीं।

श्रीकृष्ण की उपर्युक्त लीलाएँ व्रज साहित्य या हिन्दी साहित्य की एक विधा ही बन गयी हैं। सूरदास का "सूरसागर" श्रीकृष्ण की इन्हीं बाल-लीलाओं के वर्णन से भरा हुआ है। इन बाल-लीलाओं में "दामोदर" नामक लीला बहुत प्रसिद्ध है।

दामोदर लीला (यमलार्जुनोद्धार) :

पाठक "दामोदर" शब्द का अर्थ समझ लें। संस्कृत भाषा में दाम का अर्थ होता है–'रस्सी', और उदर का अर्थ होता है–पेट या कमर। अतः दामोदर का अर्थ हुआ, "जिसकी कमर में रस्सी बाँधी गयी हो।" श्रीकृष्ण को इसलिए दामोदर कहा जाने लगा था कि वे शैशवास्था में माता यशोदा को बहुत खिझाते थे। वे उनके पास रहते-रहते कभी दूर भाग जाते थे, फिर कुछ क्षणों के लिए उनके पास आ जाते थे और फिर दूर भाग जाते थे। माता यशोदा ने इससे खीझकर सोचा कि "क्यों न मैं कृष्ण की कमर में अपने केशों में लगी हुई लम्बी सूत की रस्सी को खोलकर उससे उसे बाँध दूँ, जिससे वह मेरे

पास से भाग न जाया करे।'' तद्नुसार ही उन्होंने शिशु कृष्ण को पकड़कर उसकी कमर में एक सुन्दर रस्सी बाँध दी। पुराणों की मनोरंजक भाषा में कहा गया है कि, ''माता यशोदा शिशु कृष्ण की कमर में जो रस्सी बाँधती थीं, उसका अन्तिम फेरा दो अंगुल छोटा पड़ जाया करता था। इस पर उन्होंने खीझकर घर में रखी हुई समस्त केश बाँधने वाली रस्सियों से शिशु कृष्ण को बाँधने का प्रयत्न किया, किन्तु हर बार अन्तिम फेरे में रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ जाया करती थी। बहुत परिश्रान्ति के पश्चात् यशोदा जी शिशु कृष्ण को बाँध पायीं। पुराणों में आगे कहा गया है कि अन्त में यशोदा जी ने शिशु कृष्ण को एक रस्सी से बाँधकर, फिर रस्सी को एक उदूखल (ओखली) से बाँध दिया और घर के कार्य में लग गयीं। कृष्ण तो आवतारिक पुरुष थे और नर लीला करने के लिए शिशु का रूप धारण किये हुए थे। अतः वे घुटनों के बल चलते हुए उदूखल को गाड़ी के समान भूमि पर खींचने लगे। समीप ही दो अर्जुन के वृक्ष खड़े थे। शिशु कृष्ण दोनों वृक्षों के बीच के स्थान में से होकर निकलने लगे, जिससे उदूखल (ओखली) दोनों अर्जुन वृक्षों के तनों से उलझ गयी और दोनों वृक्ष बड़े भारी शब्द के साथ धराशायी हो गये। किन्तु शिशु कृष्ण वृक्षों से दबने से बच गये और उन्हें कोई चोट नहीं आयी। पुराणों के अनुसार ये दोनों वृक्ष पूर्व जन्म में कुबेर नामक देवता के पुत्र थे और नारद ऋषि के शाप से दोनों जुड़वाँ (यमल) अर्जुन वृक्ष बन गये थे। कृष्ण भगवान् द्वारा तोड़ डाले जाने के कारण ये दोनों वृक्ष बने हुए देवता पुनः देवत्व को प्राप्त हो गये। जब वृक्षों के गिरने का शब्द बाबा नन्द, माता यशोदा और गोपियों आदि ने सुना तो वे दौड़कर घटनास्थल पर पहुँचे। उन्हें कृष्ण का यह कार्य देखकर बहुत आश्चर्य हुआ और उनकी यह आस्था बलवती होने लगी कि शिशु कृष्ण एक अवतारिक शिशु ही है। नन्द बाबा ने हँसते हुए कृष्ण की कमर में बँधी हुई रस्सी खोल दी।

उपर्युक्त कथा को यमलार्जुन की कथा के नाम से भी अभिहित किया जाता है और जैसा कि ऊपर कहा गया है, बतलाया जाता है कि ये दोनों अर्जुन वृक्ष पूर्व जन्म में कुबेर के पुत्र थे, जो नारद मुनि के शाप के कारण दो यमल या जुड़वा अर्जुन के वृक्षों में परिणत हो गये थे। प्रायः जुड़वा वृक्षों की जड़ें अधिक गहराई तक नहीं जाती हैं। इन यमलार्जुन वृक्षों की जड़ें बहुत नीचे तक नहीं गयीं थीं, फिर भी उदूखल से उलझ जाने के कारण इनका धराशायी हो जाना आश्चर्यजनक तो है ही, किन्तु यह कोई अलौकिक बात नहीं है। वृक्षों या दो जुड़वा वृक्षों का सहसा धराशायी हो जाना दैवी योग मात्र है, कोई अलौकिक बात नहीं है।

कभी-कभी पुराने वृक्ष बिना आँधी आदि के भी सहसा धराशायी हो जाया करते हैं। होता यह है कि अधिक पुराने हो जाने पर कभी-कभी वृक्षों की जड़ों में घुण, दीमक या टाड़ों-सदृश कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और धीरे-धीरे जड़ को खाकर नष्ट कर देते हैं पूछा जा सकता है कि क्या दोनों ही वृक्षों की जड़ों में साथ ही साथ घुण या कीड़े लग

गये थे? इसका उत्तर यह है कि जब दोनों वृक्ष जुड़वाँ थे, तब एक ही साथ दोनों (18) में घुण या कीड़े लग जाना कौन-सी आश्चर्यजनक बात है? इसके अतिरिक्त जब दोनों वृक्ष जुड़वाँ थे तो एक के धराशायी हो जाने पर दूसरे का धराशायी हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। हाँ, किसी वृक्ष या जुड़वाँ वृक्षों के सहसा धराशायी हो जाने पर किसी समीपस्थ शिशु के ऊपर उनका न गिरना एक ऐसा दैवीयोग है, जो साधारण लोगों को इस धारणा को पुष्ट करता है कि इस प्रकार दैवी योग से बच गया हुआ बालक अवश्य ही भविष्य में एक महापुरुष होता है।

अध्याय ''चार''

श्री बलराम जी (श्री बलदेव जी) :

हमने इस स्कन्ध के चार अध्यायों में भगवान् कृष्ण के जन्म और उनके पितर श्री वसुदेव जी और देवकी आदि के विषय में सविस्तर चर्चा की है किन्तु हमने श्री बलराम जी के विषय में अब तक कुछ नहीं बतलाया है। यद्यपि श्री बलराम जी का चरित उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि स्वयं भगवान् कृष्ण का। अतः अब हम यहाँ श्री बलराम जी के विषय में बतलायेंगे :–

श्री बलराम जी जिन्हें श्री बलदेव जी या दाऊ जी भी कहा जाता था, श्री वसुदेव जी के रोहिणी के गर्भ से जात पुत्र थे। हम पहले बतला चुके हैं कि श्री वसुदेव जी के तेरह रानियों में से केवल दो रानियाँ श्री देवकी जी और रोहिणी जी ही प्रसिद्ध थीं। यतः श्री बलराम जी का जन्म भगवान् कृष्ण के जन्म से एक वर्ष पूर्व हुआ था, अतः वे श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भाई थे।

श्री बलराम जी का जन्म यद्यपि रोहिणी जी के गर्भ से माना जाता है, किन्तु कुछ पौराणिक उन्हें श्री देवकी जी के ही गर्भ से जात मानते हैं। पुराणों में कहा गया है कि जब श्री देवकी ने सातवाँ गर्भ धारण किया और श्री बलराम जी का जन्म हुआ, तो शिशु बलराम एक मृत शिशु के रूप में जन्में। अतः मथुरा में यह बात फैल गयी कि, ''श्री देवकी जी का यह सातवाँ गर्भ नष्ट हो गया या गर्भपात हो गया। लोग श्री देवकी जी के साथ शोक मनाने लगे और श्री वसुदेव जी मृत शिशु का अन्तिम संस्कार करने के लिए उसे यमुना जी के तट पर ले गये, किन्तु वहाँ पहुँचते ही शिशु बलराम का मृत शरीर जीवित हो गया। यह देखकर वसुदेव जी जीवित शिशु को यमुना जी के उस पार गोकुल ग्राम में पहुँचा आये, जहाँ उनकी पत्नी रोहिणी जी कंस के भय से श्री यशोदा जी के साथ ही रह रहीं थीं। रोहिणी जी ने ही बलराम जी का पालन-पोषण किया। इधर श्री वसुदेव जी ने मथुरा में यह बात फैला दी कि मैंने मृत शिशु को यमुना जी में प्रवाहित कर दिया। इस प्रकार यद्यपि लोग शिशु बलराम को श्री रोहिणी के गर्भ से जात समझते थे किन्तु वास्तव में वे देवकी जी के ही गर्भ से जात पुत्र थे। जो कुछ भी बात हो किन्तु

इतना तो सत्य ही है कि श्री बलराम जी श्री वसुदेव जी के ही पुत्र थे और श्रीकृष्ण के बड़े भाई थे। पुराणों में श्री बलराम जी को शेषनाग का अवतार कहा गया है।

श्री बलराम जी शरीर से बहुत ही शक्ति सम्पन्न थे एवं जैसे भगवान् कृष्ण का सबसे महत्वपूर्ण शस्त्र चक्र सुदर्शन था, वैसे बलराम जी का सर्वश्रेष्ठ शस्त्र गदा था। श्री बलराम जी ने कुन्ती के पुत्र भीम एवं गान्धारी के पुत्र दुर्योधन दोनों को ही गदा-युद्ध की शिक्षा दी थीं, इसी से कौरव लोग श्री बलराम जी को अपना गुरु मानते थे।

श्री बलराम जी बड़े सीधे-सादे स्वभाव के थे। वे राजनीतिक झंझटों से दूर रहते थे। जब उनके सामने कोई राजनीतिक प्रश्न उपस्थित हो जाता था तो उस समय वे भगवान् कृष्ण के कथनानुसार ही कार्य करते थे। वे महाभारत महायुद्ध के छिड़ जाने पर कौरव या पाण्डव किसी पक्ष की ओर से नहीं लड़े वरन् तीर्थ यात्रा करने लग गये थे।

श्री बलराम जी श्रीकृष्ण के बड़े भाई होते हुए भी उनके अनन्य भक्त थे और जहाँ बल प्रदर्शन की आवश्यकता होती थी, वहाँ श्रीकृष्ण बलराम जी की ही सहायता लेते थे।

स्कन्ध-तीन

वृन्दावन में बालक श्रीकृष्ण और बलराम

प्राक्कथन :

इस स्कन्ध में पहले बतलाया गया है कि प्राकृतिक अवस्थाओं के प्रतिकूल हो जाने के कारण भगवान् कृष्ण के धर्मपिता और माता श्रीनन्द और यशोदा के नेतृत्त्व में गोपों ने गोकुल आदि ग्रामों को छोड़कर यमुना नदी के दूसरे पार स्थित वृन्दावन को प्रव्रजन किया, जहाँ वे पहले अस्थायी प्रकार से बस गये, और आगे चलकर वृन्दावन का बहुत भाग ग्रामों के रूप में परिणत हो गया और ब्रज कहलाने लगा।

तब ब्रज के अस्तित्व में आ जाने पर गोप लोग स्थायी प्रकार से उसमें बस गये।

इस स्कन्ध में संक्षेप में बतलाया गया है कि श्रीकृष्ण और बलराम ने गाय चराने वाले अपने सैकड़ों गोप बालकों की सेना की सहायता से किस प्रकार पहले वृन्दावन के हिंस पशुओं एवं पक्षियों का विनाश कर डाला, जिससे वृन्दावन का प्रत्येक अंचल इस योग्य हो गया कि इसमें भगवान् कृष्ण के गोप लोग एवं महावन के आस-पास के रहने वाले गाँवों के लोग भी स्वच्छन्दतया विचरण करने लगे और इस महावन में प्राप्त होने वाले फलों एवं लकड़ियों का समुचित उपभोग करने लगे।

धीर-धीरे वृन्दावन नामक इस महावन का एक बड़ा भाग ग्रामों में परिणत हो गया और "ब्रजमण्डल" कहलाने लगा। वृन्दावन की भूमि पर थोड़ी बहुत कृषि करके एवं वन में अपने पशु चराकर गोप लोग बहुत ही सुखी एवं समृद्ध हो गये और भगवान् कृष्ण एवं बलराम के प्रशिक्षण से इस योग्य बन गये कि उनकी सहायता से अन्त में भगवान् कृष्ण और बलराम ने "शौरसेन" के कंस जैसे दुष्ट नरेश का विनाश कर दिया।

अध्याय-एक 'क'

गोकुल से वृन्दावन को प्रव्रजन और वन में गोपों का अस्थायी प्रकार से बस जाना :

यत: गोप जाति के लोगों का मुख्य व्यवसाय गोपालन ही था, अत: वे किसी समधान या वन में तभी तक ठहरते थे, जब तक उनकी गायों के लिए घास से भरी हुई पर्याप्त भूमि मिलती रहती थी एवं स्थान भी निरुपद्रव रहता था। जब उस समधान या वन की घासें समाप्त हो जाती थीं, तो उन्हें छोड़ देना ही उचित समझा जाता था। जब गोकुल ग्राम के आस-पास के समधानों या वनों की घासें समाप्त हो गयीं, तब गोप लोग किसी दूसरे स्थान की खोज करने लगे।

अपरञ्च गोकुल के समीप ही एक बड़ा भारी वन था, उसमें हिंस पशुओं की संख्या

बहुत अधिक बढ़ गयी थी और आये दिन हिंसक पशु गोपों के पशुओं एवं मानवों की हानि करने लग गये थे। इन्हीं बातों के कारण गोप लोग गोकुल को छोड़कर वृन्दावन में चले आये। गोकुल ही नहीं वरन् यमुना जी के उस पार जितने ग्राम थे, उन सबके गोप, जो सहस्रों की संख्या में थे, वृन्दावन चले आये।

वृन्दावन :

यमुना जी के जिस तट पर गोकुल ग्राम स्थित था, उसके दूसरे पार मथुरा से और आगे वृन्दावन का महावन स्थित था। यह महावन कई कोसों लम्बा-चौड़ा था और विभिन्न प्रकार के फलदार वृक्षों एवं झाड़ियों आदि से परिपूर्ण था। वन में घास भी पर्याप्त मिलती थी। यमुना जी की धारा भी पास ही बहती थी। इन सब कारणों से वृन्दावन गोपों को बहुत भाया और वे प्रारम्भ में अस्थायी प्रकार से उसमें बस गये। पश्चात् व्रज के अस्तित्व में आ जाने पर गोप व्रज में स्थायी प्रकार से बस गये व्रज के विषय में आगे बतलाया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वृन्दावन कई कोसों लम्बा-चौड़ा एक विशाल महावन था। इसमें कई प्रकार के वन थे, यथा-कोई ताड़ों का वन था, कोई कदम्बों का वन था और कोई फलों का वन था इत्यादि। इन वनों में सैकड़ों प्रकार के हिंसक पशु रहा करते थे। वृन्दावन के आस-पास के गाँवों की जनता इन पशुओं के भय से महावन के विभिन्न अंचलों में प्रवेश नहीं करती थीं। किन्तु बालक श्रीकृष्ण और बलराम के साथ गाय चराने वाले सैकड़ों गोप बालकों की एक विशाल सेना विद्यमान थी। अतः उन्होंने वृन्दावन के प्रत्येक अंचल को भली-भाँति छान डाला। बालक श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई शरीर से बड़े ही बलिष्ट एवं साथ ही बड़े बुद्धिमान् थे। दोनों भाइयों ने सैकड़ों गोप बालकों की सेना के साथ वृन्दावन में रहने वाले विभिन्न प्रकार के हिंसक पशुओं या जीवों का उज्जाशन करना प्रारम्भ कर दिया। श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा मारे जाने वाले इन हिंस पशुओं या जीवों के विषय में हम संक्षेप में नीचे बतला रहे हैं।

धेनुकासुरों का वध :

वृन्दावन के महावन में एक ऐसा वन स्थित था, जिसमें ताड़ों के ही सहस्रों वृक्ष थे, जिनसे पके हुए सुगन्धित ताड़ के फल बराबर चूते रहते थे परन्तु इस ताड़ के वन में एक विचित्र प्रकार के गदहों जैसे पशु उत्पन्न हो गये थे, जिन्हें लोग धेनुकासुर कहते थे। धेनुकासुर मनुष्यों को मार डाला करते थे, जिससे कोई मनुष्य इस ताड़ के वन में प्रवेश नहीं करता था और धेनुकासुर ही सब फल खा जाया करते थे। बालक श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने सैकड़ों गोप बालकों की सेना की सहायता से एक-एक करके इन धेनुकासुर कहलाने वाले हिंसक पशुओं को मार डाला, फिर तो गोप एवं वृन्दावन के आस-पास के गाँवों के लोग इन ताड़ के फलों पर टूट पड़े और स्वादिष्ट फलों को खाकर श्रीकृष्ण और बलराम का गुणगान करने लगे। कुछ पुराणों के अनुसार इन ताड़ों के वन

पर एक ही असुर का वर्चस्व छाया हुआ था, जिसका नाम धेनुकासुर था। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने गोप बालकों की सेना के साथ इस असुर को मार डाला। कुछ पौराणिक इस धेनुकासुर को कंस का एक दुष्ट सहायक मानते थे।

बकासुरों का वध :

ऐसे ही वृन्दावन नामक महावन के कई अंचलों में कुछ दैत्याकार पक्षी उत्पन्न हो गये थे, जो इक्के-दुक्के मनुष्यों को मारकर खा डालते थे। इन पक्षियों को लोग बकासुर कहते थे। बकासुरों के भय से वृन्दावन के कई अंचलों में लोग प्रवेश करने से डरते थे। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने सैकड़ों गोप बालकों की सेना की सहायता से इन बकासुरों को खोज-खोजकर मार डाला।

कुछ पौराणिकों ने धेनुकासुरों के समान ही बकासुरों के स्थान में भी केवल एक ही बकासुर की कल्पना की है और उसे कंस का एक सहायक या प्रेष्य लिख दिया है।

वत्सासुर :

ऐसे ही वृन्दावन नामक महावन में वत्सासुर नामक एक प्रकार के गाय के बछड़ों के सदृश पशु उत्पन्न हो गये थे, जो चरती हुई गायों के बछड़ों में प्रवेश कर जाते थे और उन्हें चुपके से मारकर खा जाते थे। इन पशुओं को लोग वत्सासुर कहते थे। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने गोप बालकों की सेना की सहायता से इन हिंसक पशुओं को खोज-खोजकर मार डाला।

कुछ पौराणिकों ने धेनुकासुरों एवं वकासुरों के समान ही केवल एक ही वत्सासुर की चर्चा की है, जो बात हमें युक्त प्रतीत नहीं होती है।

अघासुर :

वृन्दावन नामक महावन में अजगर बहुत बड़ी संख्या में रहते थे, जो सर्वत्र विचरते रहते थे। कुछ अजगर इतने बड़े थे कि इनके मुख पर्वत की खोहों या सुरंगों के समान दिखलायी पड़ते थे। जो व्यक्ति अपने अघों या पापों के कारण इनमें भूल से प्रवेश कर जाता था, उसे ये अजगर निगल जाते थे एवं उस प्रवेश करने वाले व्यक्ति के विषय में लोग कहते थे कि, ''वह अपने अघों या पापों के कारण अजगर के मुख में घुसा।'' इसी से ऐसे अजगरों को लोग अघासुर कहते थे। बालक श्रीकृष्ण और बलराम ने वृन्दावन के प्रत्येक वन को छान डाला और ऐसे अजगरों को मारकर महावन को निष्कंटक बना दिया।

कुछ पौराणिकों ने बहुत से अजगरों या अघासुरों के स्थान में केवल एक दैत्याकार अजगर की ही कल्पना की है।

ऊपर हमने वृन्दावन के हिंस्र पशुओं या जीवों की चर्चा की है, जिन्हें मारकर बालक कृष्ण और बलराम ने वृन्दावन को निष्कंटक बना दिया। अब कुछ वृन्दावन की प्राकृतिक शरण स्थलियों के बारे में सुनिये।

गोवर्धन पर्वत की गुहाएं :

भगवान् कृष्ण के युग में गोवर्धन पर्वत के सैकड़ों छोटे-छोटे भाग वृन्दावन के महावन में सर्वत्र फैले हुए थे। इन पर्वत के अंशों में स्थित गुहाएं कहीं खोहों या कहीं सुरंगों जैसी लगती थीं। ऐसी कुछ खोहें तो पर्याप्त लम्बी होती थीं और उनमें अन्धकार भी होता था तथा उनमें सांप और अजगर प्रभृति जीव रहने लग गये थे। लोग इन खोहों या सुरंगों में प्रवेश करने से डरते थे।

बालक श्रीकृष्ण और बलराम ने वृन्दावन के महावन भर में फैली हुई ऐसी खोहों या सुरंगों का भली-भाँति अध्ययन कर लिया तथा समझ लिया कि इन खोहों या सुरंगों को सुधार कर शरण-स्थलियों के रूप में इनका उपयोग किया जा सकता है। फिर तो श्रीकृष्ण और बलराम के आदेश पर सैकड़ों गोप बालकों की सेना गोवर्धन-पर्वत की ऐसी गुहाओं या सुरंगों को छानने लगी। गोप बालकों ने इन गुहाओं या सुरंगों को छान डाला और इनमें रहने वाले अजगरों एवं साँपों को भगा दिया तथा जहाँ प्रकाश के लिए झरोखों की आवश्यकता थी, वहाँ इनमें झरोखे भी बना डाले।

अब इन गुहाओं या सुरंगों का लोग बरसात या तपन के दिनों में शरण-स्थलियों के रूप में उपयोग करने लगे। इस प्रकार वृन्दावन में सर्वत्र अनायास ही प्रकृति रचित शरण-स्थलियाँ प्राप्त हो गयीं।

निष्कंटक वृन्दावन :

हमने ऊपर जो कुछ कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि वृन्दावन का महावन विभिन्न प्रकार के फलदार वृक्षों एवं झाड़ियों से भरा हुआ था। किन्तु वृन्दावन में विभिन्न प्रकार के हिंस पशु या जीव रहने लग गये थे, अतः लोग वन के फलों या लकड़ियों आदि का उपभोग नहीं कर पाते थे। बालक श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने सैकड़ों गोप बालकों की सेना के साथ वृन्दावन के प्रत्येक अंचल को छान डाला और उनमें रहने वाले हिंस पशुओं या जीवों को मार भगाया, परिणामतः लोग निडर होकर सर्वत्र वृन्दावन में अपने पशुओं को चराने लगे तथा वन के फलों और लकड़ियों का उपभोग करने लगे।

ऐसे ही वृन्दावन में जो गोवर्धन पर्वत के अंश सर्वत्र फैले हुए थे, उनका भी श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने सैकड़ों गोप बालकों की सेना की सहायता से सुधार करके उन्हें शरण-स्थलियों के रूप में उपयोग करने योग्य बना दिया।

इस प्रकार वृन्दावन में प्रकृति निर्मित शरण-स्थलियाँ ही सर्वत्र प्राप्त हो गयीं।

अध्याय-एक "ख"

ब्रज एवं ब्रज मण्डल का अस्तित्व में आना :

हम पहले कह चुके हैं कि गोकुल आदि ग्रामों को छोड़कर जब गोप लोग वृन्दावन के महावन में आये, तो पहले वे अपने अस्थायी घर बनाकर रहने लगे थे, किन्तु जब

उपर्युक्त प्रकार से श्रीकृष्ण और बलराम ने वृन्दावन को निष्कंटक बना दिया, तब गोप लोग अपने स्थायी निवास गृह बनाकर वृन्दावन में बस गये। वृन्दावन के आस-पास के गाँवों के लोग भी धीरे-धीरे वन में आकर बसने लगे। वृन्दावन में बसने वाले प्रायः सभी गोप ही थे। इन्होंने महावन में अपने सर्वत्र सैकड़ों व्रज एवं गोष्ठ बना डाले थे और अपने पशुओं को उनमें रखने लगे। गोपों का व्यवसाय पशुपालन ही था। अब वृन्दावन भर में सर्वत्र गोष्ठ या व्रज ही दृष्टिगोचर होने लगे।

पाठक व्रज शब्द का अर्थ समझ लें। जिन स्थानों पर बड़े-बड़े समूहों में पशु रुद्ध करके रखे जाते हैं, उन्हें ही व्रज कहते हैं। आजकल की भाषा में व्रज को पशुओं का बाड़ा भी कह सकते हैं। गोष्ठ भी पशुओं का बाड़ा ही होता है।

जब वृन्दावन महावन के एक बड़े भाग में गोपों की बस्तियाँ बस गयीं और सर्वत्र व्रज या गोष्ठ दिखलायी पड़ने लगे, तो इन बस्तियों को सामूहिक प्रकार से ब्रजमण्डल या व्रज कहा जाने लगा।

व्रज के निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण :

इस प्रकार व्रज के निर्माता भगवान् कृष्ण ही थे। आधुनिक मथुरा जनपद और उसके आस पास के क्षेत्र को व्रज ही कहते हैं तथा इस क्षेत्र की भाषा व्रज भाषा कहलाती है। आज से चार सौ वर्ष पूर्व काव्य रचना की दृष्टि से व्रज भाषा की जो विशेष मान्यता रही है, वह आज भी है।

व्रज के ग्राम :

यमुना के उस पार से वृन्दावन में आये गोपों के जो ग्राम बसे, उनमें नन्दगाँव एवं बरसाना आज भी प्रसिद्ध हैं। नन्द गाँव वही है, जिसमें भगवान् कृष्ण के धर्मपिता और माता श्रीनन्द और यशोदा इत्यादि रहते थे एवं बरसाना गाँव वही है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेयसी श्री राधिका जी के पिता श्री वृषभानु जी रहते थे।

अध्याय-दो "क"

"प्रलम्बासुर एवं व्योमासुर"

प्राक्कथन :

अध्याय एक "क"और "ख" में हमने यह बतलाया है कि बालक श्रीकृष्ण और बलराम ने गोकुल से वृन्दावन में आने के पश्चात् किस प्रकार वृन्दावन के हिंस पशुओं या जीवों को मारकर इस महावन को ऐसा बना दिया कि अब लोग इसमें स्वच्छन्द घूमने-फिरने और अपने पशुओं को चराने लगे तथा महावन के फलों एवं लकड़ियों का उपयोग करने लगे।

कंस को अपने पसपशों से श्रीकृष्ण और बलराम के विषय में बराबर सूचना मिलती

रहती थी। इनके कर्तव्यों को देखकर कंस की यह भावना दृढ़ से दृढ़तर होने लग गयी थी कि श्रीकृष्ण और बलराम श्री वसुदेव जी के ही पुत्र हैं, जिनके विषय में ज्योतिषियों ने मुझे बतला रखा है कि वे सयाने होकर मुझे अवश्य मार डालेंगे, अतः उसने वृन्दावन में भी अपने कुछ सहायकों को वेश बदलकर श्रीकृष्ण और बलराम से मिलने तथा उन्हें किसी प्रकार मार डालने के लिए भेजा। इसमें से हम यहाँ केवल दो की चर्चा करेंगे। उनमें से पहला है, प्रलम्बासुर और दूसरा है व्योमासुर।

प्रलम्बासुर :

एक बार जब गायों को चराते हुए श्रीकृष्ण और बलराम अपने गोप बालक साथियों के साथ खेल खेल रहे थे, तो प्रलम्बासुर भी एक गोप बालक का वेश बनाकर श्रीकृष्ण और बलराम के साथ खेलने लगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने उसे पहचान ही लिया और खेल ही खेल में उसे मार डाला। प्रलम्बासुर के मारे जाने पर जब गोप बालकों को वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो वे बहुत हँसे और श्रीकृष्ण एवं बलराम की प्रशंसा करने लगे।

व्योमासुर :

इसी प्रकार कंस द्वारा प्रेरित व्योमासुर नाम का एक असुर भी वृन्दावन में खेलते हुए गोप बालकों की टोली में वेश बदलकर घुस गया। उसने खेल ही के प्रसंग में कुछ गोप बालकों को गोवर्धन पर्वत की एक गुहा में ले जाकर बन्द कर दिया। अन्तोगत्वा श्रीकृष्ण को इसका पता चल ही गया। फिर तो श्रीकृष्ण और बलराम ने व्योमासुर को मार डाला और गोप बालकों को वास्तविक बात बतला दी, जिससे वे बहुत प्रसन्न हुए तथा उत्सव मनाने लगे।

अध्याय-दो "ख"

कुछ विचित्र हिंसक पशु, जिन्हें श्रीकृष्ण और बलराम ने मार डाला :

वृन्दावन महावन के हिंसक पशु या जीव श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा मार डाले गये। परिणामस्वरूप लोग समस्त वृन्दावन में सुतराम् आने-जाने और घूमने-फिरने लगे तथा वृन्दावन में बहुत से ग्राम भी बस गये। फलतः इस महावन के कुछ घने वनों में रहने वाले विचित्र हिंसक पशु अब स्वतन्त्रतापूर्वक उनमें न रह सके, अतः वे वनों में से निकलकर गोपों के ग्रामों पर आक्रमण करने लगे। ऐसे दैत्याकार हिंसक पशुओं में से हम यहाँ केवल दो की चर्चा करेंगे, जिनको श्रीकृष्ण और बलराम ने मार डाला और गोपों के ग्रामों को निरापद कर दिया । वे हैं-(1) केशी और (2) अरिष्यासुर।

केशी (और केशि-निसूदन) :

केशी एक बड़े भारी दैत्याकार घोड़े जैसा पशु था। वह गोपों की बस्तियों में घुसकर बच्चों को मारकर खा जाता था और सयाने लोगों को भी बहुत घायल कर देता था। लोग

इसे देखते ही अपने घरों के द्वार बन्द कर देते थे या बाहर भाग जाते थे। श्रीकृष्ण ने गोपों
को सुसंघटित किया और उनकी सहायता से केशी का वध कर दिया।

केशी जैसे दैत्याकार घोड़े का वध करना बड़ी भारी वीरता एवं जोखिम का काम था।
इसी से जब भगवान् कृष्ण ने केशी को मार डाला, तो उन्हें लोग प्रशंसा से केशिनिसूदन
कहने लगे थे।

अरिष्टासुर :

केशी के ही सदृश एक दैत्याकार वृषभ के आकार का जीव गोपों के ग्रामों पर
आक्रमण करने लग गया था, इसे लोग अरिष्टासुर कहते थे।

अरिष्टासुर गोपों की गायों को मार डाला करता था। भगवान् कृष्ण ने गोपों को
सुसंघटित करके उनकी सहायता से अरिष्टासुर को मार डाला।

इस प्रकार व्रज में स्थित सभी गोपों के ग्राम सभी आपदाओं से सुरक्षित हो गये।

अध्याय-दो 'ग'

असामाजिक तत्वों का निराकरण

व्रज के सभी गोप ग्रामों की सुरक्षा के सम्बन्ध में जब भगवान् कृष्ण पूर्णतया
निश्चिन्त हो गये, तब उन असामाजिक तत्वों के निराकरण की ओर ध्यान दिया, जो
कंस-शासक के काल में व्रज के आस-पास फूल-फल रहे थे। इनमें से यहाँ हम केवल
दो की चर्चा करेंगे, वे हैं-(१) कालिया नाग और (२) शंखचूड़।

(१) कालिया नाग :

यमुना जी के तट पर एक विशाल मनोहर कुण्ड था, जो यमुना जी के जल से भरा
रहता था। किन्तु इस कुण्ड में पशु और मनुष्य कोई भी जल नहीं पी सकता था और न
उसमें स्नान ही कर सकता था। बात यह थी कि कालिया नामक नाग जाति का एक
परिवार उस कुण्ड के तट पर रहता था, जिसके कारण उस कुण्ड को कालियदह कहा
जाता था। कालिया नाग का कालियदह या कुण्ड पर ही नहीं वरन् यमुना जी के एक
बड़े भाग पर भी आतंक बराबर छाया रहता था और जो कोई कालियदह में या समीपस्थ
यमुना तट पर पानी पीने या स्नान करने जाता था, उसे कालिया मार डाला करता था।
भगवान् कृष्ण ने खेल ही खेल में कालियदह में प्रवेश किया। उन्होंने गेंद खेलते हुए
अपनी गेंद कालियदह में फेंक दी और फिर उसे निकालने के लिए उसमें कूद पड़े। जब
कालिया नाग ने यह सब देखा तो वह भगवान् कृष्ण को मार डालने के लिए उन पर
झपटा। इस पर भगवान् कृष्ण और बलराम के साथी सैकड़ों गोप बालकों ने कालिया नाग
को पकड़ लिया और उसे इतना मारा पीटा कि अन्त में वह कालियदह को छोड़कर भाग
खड़ा हुआ। अब लोग कालियदह और यमुना जी में सर्वत्र बराबर पानी पीने तथा स्नानादि
करने लगे।

(27)

(२) शंखचूड :

कंस के दिनों में शंखचूड नाम का एक यक्ष बड़ा दुर्वृत्त था। वह जब कहीं कुछ कुमारियों या युवतियों को अकेला घूमता हुआ पा जाता था तो उन्हें पकड़कर ले भागता था। किन्तु भला कृष्ण और बलराम ऐसी दुष्टता कब देख सकते थे। भगवान् कृष्ण ने शंखचूड को पकड़कर मार डाला और वह जो एक बड़ी मणि अपनी चूड़ा में धारण किये हुए था, उसे लेकर श्री बलराम जी को दे दिया। इस मणि के कारण ही उसे शंखचूड कहा जाता था। कृष्ण और बलराम के इस कार्य से इस प्रकार के यक्षों का दुष्ट व्यवसाय समाप्त हो गया।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने कंस के राज्य में फूल-फल रहे असामाजिक तत्वों का विनाश करके गोपों को सुरक्षित बनाया।

अध्याय-दो 'घ'

ब्रह्म-मोह-नाश :

इस बात को पुष्ट करने के लिए कि भगवान् कृष्ण एक अवतार ही थे, पुराणों में एक बड़ी मनोरंजक कथा लिखी है, जो यद्यपि अनावश्यक है, किन्तु पौराणिकों ने उसका उल्लेख किया है, अतः हम भी उसका उल्लेख कर देते हैं। स्वल्प में उस कथा का आशय निम्नांकित है—

इस बार ब्रह्मा ने भगवान् कृष्ण की परीक्षा लेनी चाही। एक दिन भगवान् कृष्ण वृन्दावन में यमुना के तट पर गाय चराने वाले गोप बालकों के साथ दोपहर का भोजन कर रहे थे। जब गोप बालक भोजन में तल्लीन थे, तब उनकी गायें वन में चरती हुई बहुत दूर चली गयीं और आँखों से ओझल हो गयीं। जब गोप बालकों को गायों का ध्यान आया तो वे हड़बड़ी में भोजन छोड़कर गायों को खोजने के लिए जाने को उद्यत हो गये। इस पर भगवान् कृष्ण ने सभी गोप बालकों से कहा,-'तुम लोग स्वतन्त्रता से भोजन करो। मैं स्वयं गायों का पता लगा लाता हूँ।' यह कहकर भगवान् कृष्ण गायों को खोजने के लिए चल पड़े। वस्तुतः गायों को स्वयं ब्रह्मा जी ने हर लिया था और उन्हें अपने लोक में स्थापित कर दिया था। जब भगवान् कृष्ण को गायें नहीं मिलीं, तब वे लौटकर यमुना जी के तट पर आये, जहाँ गोप बालक भोजन कर रहे थे, किन्तु उन्होंने देखा कि वहाँ गोप बालक भी नहीं हैं। बात यह हुई कि जब भगवान् कृष्ण गायों को खोजने के लिए चले गये थे, तब ब्रह्मा ने सभी गोप बालकों को भी हर लिया था और उन्हें अपने लोक में स्थापित कर दिया था। भगवान् कृष्ण ने अपनी योग दृष्टि से सारी बातें जान लीं। अतः उन्होंने अपनी माया से वैसे के वैसे ही गोप बालक और वैसी की वैसी ही गायें उत्पन्न कर दी, जैसी कि ब्रह्मा जी ने हरीं थी एवं साथ ही ऐसी स्थिति बना दी कि जब भगवान् कृष्ण द्वारा माया रचित गोप बालक तथा माया-रचित गायें दोनों संध्या को अपने-अपने

घरों को लौटे, तो गोप बालकों की माताओं को ये माया-रचित बालक अपने ही बालक लगे एवं घर पर बंधे रह गये बछड़ों को भी माया-रचित गायें अपनी ही अपनी माताएँ जान पड़ीं। एक वर्ष तक ऐसी ही स्थिति रही। यह सब कुछ देखकर ब्रह्मा अत्यन्त चकित रह गये और उन्होंने भगवान् कृष्ण के समक्ष उपस्थित होकर अपनी धृष्टता के लिए क्षमा याचना की एवं हरे हुए गोप बालकों, बछड़ों तथा गायों को पुनः भगवान् कृष्ण को लौटा दिया।

अध्याय-तीन

भगवान् कृष्ण के अलौकिक कार्य (भगवान् कृष्ण का गिरिधारी कहलाना) :

भगवान् कृष्ण और बलराम ने व्रज में स्थित गोप ग्रामों के सुरक्षार्थ बहुत से कार्य किये, यथा-इन ग्रामों पर आक्रमण करने वाले केशी और अरिष्टासुर जैसे दैत्याकार हिंसक पशुओं को मार डाला तथा गोपों के ग्रामों के आस-पास रहने वाले कालिया नाग एवं शंखचूड-जैसे असामाजिक तत्वों का वध कर दिया, जिससे ग्रामों के लोग निर्भय होकर यमुना जी के तट पर या समस्त व्रज में विचरण करने लगे। इन्हीं कार्यों की श्रृंखला में भगवान् कृष्ण का एक अलौकिक कार्य बहुत प्रसिद्ध है, जिसके कारण उन्हें लोग, ''गिरिधारी'' कहने लगे। भगवान् कृष्ण के लिए गिरिधारी शब्द का प्रयोग आज भी भक्त लोग भजनों में करते हैं। भगवान् कृष्ण के गिरिधारी कहलाने की कथा इस प्रकार है-

गोपों में यह अन्धविश्वास फैल गया था कि यदि हम लोग प्रतिवर्ष बरसात के प्रारम्भ में इन्द्र भगवान् की पूजा किया करें और अधिक से अधिक ब्राह्मणों को भोजन कराया करें तो जो हमारे ग्राम बरसात में अतिवृष्टि से बह जाया करते हैं उनकी रक्षा हो सकती है। अतः गोप लोग प्रतिवर्ष बरसात के आरम्भ होने से पूर्व इन्द्र की पूजा करते थे।

भगवान् कृष्ण ने गोपों की इस बड़ी कठिनाई का अध्ययन किया और उन्होंने जान लिया कि यदि गोवर्धन पर्वत की अनियमित प्रकार से फैले हुए छोटे-छोटे टीलों की शिलाओं को उखाड़-उखाड़कर उन्हें इस प्रकार जोड़ दिया जाय कि ग्रामों की भूमि समतल हो जाय और गोवर्धन पर से नीचे बहता हुआ जल अनियमित धाराओं के स्थान में कुछ निश्चित धाराओं या निश्चित नालों में ही बहने लगे तो नालों के ऊपरी समतल भागों पर गोप लोग अपना घर बनाकर उसमें रहने लगेंगे और ये घर बरसात में बहेंगे नहीं।

भगवान् कृष्ण ने सोचा कि ''गोपों में जो यह अन्ध विश्वास फैला हुआ है कि यदि हम बरसात के पूर्व व्यय साध्य इन्द्र की पूजा न किया करें तो अतिवृष्टि से इन्द्र हमारे घरों को बहा ले जायेंगे'' उनका यह अन्धविश्वास भी दूर किया ही जाना चाहिए।

अब भगवान् कृष्ण ने गोपों की एक सभा बुलायी और सबसे कहा ''मैंने गोवर्धन पर्वत की स्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर लिया है और समझ लिया है कि यदि सभी

बाल वृद्ध गोप मेरे कहने के अनुसार कार्य में जुट जायें और मेरे कथनानुसार कर डालें तो मैं गोवर्धन पर्वत को इस प्रकार धारण कर लूँगा कि चाहे कितनी ही अतिवृष्टि हो गोवर्धन से नीचे बहने वाली अनियमित जल की धाराएँ गोपों के घरों को बहाने में समर्थ नहीं होंगी।

गोवर्धन पर्वत का सुन्दरीकरण :

भगवान् कृष्ण के आदेश पर सहस्रों की संख्या में गोप लोग काम पर जुट गये। उन्होंने ऊबड़-खाबड़, ऊँची नीची भूमि को खोदकर या गोवर्धन के शिलाखण्डों से पाटकर समस्त भूमि को जिस पर ग्राम बसे हुए थे समतल कर डाला और गोवर्धन पर्वत से अनियमित धाराओं में नीचे गिरते हुए पानी के बहने के लिए निश्चित नाले बना दिये। परिणामतः बरसात का समस्त जल निश्चित नालों से होकर बह गया और गोपों के घर बहने से सर्वथा बच गये। अब गोपों की एक बड़ी भारी कठिनाई दूर हो गयी।

गिरिधारी :

जब बरसात में गोपों के घर बहने से बच गये तो सीधे-सादे गोपों ने यही समझा कि जो हमारे घर अतिवृष्टि से बह नहीं गये उसका कारण यही है कि भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को हमारे घरों के ऊपर धारण कर रखा था, जैसा कि उन्होंने कहा था और प्रशंसा से उन्होंने भगवान् कृष्ण को गिरिधारी कहना प्रारम्भ कर दिया।

गोवर्धन पूजा :

अब बरसात के अन्त में कार्तिक मास की अमावस्या को जो गोप लोग दीपावली मनाया करते थे, उसी अवसर पर भगवान् कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की पूजा का भी आयोजन करवाया और उन्होंने गोपों से कहा कि अब तक गोप लोग इन्द्र की पूजा के प्रसंग में विभिन्न प्रकार की स्वादिष्ट पकवानें एवं स्वादिष्ट मिठाइयाँ आदि तैयार करके ब्राह्मणों को खिलाया करते थे। किन्तु एक दिन ऐसा भी होना चाहिए जिस दिन गोप लोग आबाल वृद्ध स्वादिष्ट पकवानें और मिठाइयाँ बना-बनाकर पहले ब्राह्मणों को खिलाकर फिर कई दिनों तक स्वयं भी उनका भोजन करें और मोद मनायें।

तदनुसार ही आज कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की द्वितीया को गोवर्धन की पूजा की जाती है और पूजा के पश्चात् स्वादिष्ट मिठाइयाँ एवं पकवानें गोवर्धन को चढ़ाकर फिर ब्राह्मणों को भी खिलाकर तदनन्तर कई दिनों तक सभी बच्चे, जवान, बूढ़े स्वयं उनका भोजन करते हैं एवं मोद मनाते हैं। गोवर्धन पूजा को ही भारत के कुछ भागों में ''गोधना'' पर्व भी कहते हैं। आज भी गोवर्धन पूजा से पूर्व बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ सभी अपने घरों के आस-पास की भूमियों को सम कर डालते हैं और घरों को लीप-पोतकर उन्हें सुन्दर बना देते हैं, तब गोवर्धन पूजा करते हैं तथा विभिन्न प्रकार की पकवानें एवं मिठाइयाँ कई दिनों तक खाते हैं और मोद मनाते हैं।

स्कन्ध 'चार'

भगवान् कृष्ण का गोपों को प्रशिक्षित करना और उनकी आर्थिक अवस्था को सुधारना :

प्राक्कथन :

स्कन्ध तीन तक हमने यह बतलाया है कि किस प्रकार पहले भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने सैकड़ों गोप बालकों की सहायता से वृन्दावन को हिंस पशुओं आदि से निष्कंटक करके इस योग्य बना दिया कि उसमें गोपों के ग्राम बस गये, जिन्हें व्रजमण्डल कहा जाने लगा। फिर व्रज के गाँवों में भी जो केशी और अरिष्टासुर प्रभृति कुछ भयंकर जंगली पशु वृन्दावन के बड़े-बड़े जंगलों के समाप्त हो जाने के कारण जंगलों को छोड़कर गोपों के ग्रामों पर आक्रमण करने लगे थे, उनको भी श्रीकृष्ण और बलराम ने मार डाला तथा कालिय एवं शंखचूड जैसे असामाजिक तत्वों का भी श्रीकृष्ण और बलराम ने विनाश कर दिया। ये दुष्ट कंस की छत्र छाया में ही पनप रहे थे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण और बलराम ने गोप ग्रामों को सर्वथा सुरक्षित कर दिया। अन्त में गोपों को सुसंघटित करके उनके द्वारा गोप ग्रामों के आस-पास की भूमि को सम करवा डाला, जिससे बरसात में गोवर्धन पर्वत पर से नीचे बहता हुआ जल नदी-नालों द्वारा दूर बह जाया करने लगा। फलतः गोपों के ग्राम बरसात के दिनों में सुरक्षित रहने लगे। इन सब बातों के परिणामस्वरूप गोप के ग्राम बड़े सुख का जीवन व्यतीत करने लगे।

अब भगवान् कृष्ण ने गोपों को प्रशिक्षित करके उन्हें कृषि कार्य में निपुण किया, जिससे गोप लोग स्वयं अन्न उपजाने लगे और अपना दूध-दही अन्नादि के लिए नगरों या हट्टों में न बेचकर स्वयं खाने पीने लगे, जिससे वे शरीर से बहुत हृष्ट-पुष्ट हो गये। तब भगवान् कृष्ण ने गोपों की सैनिक शिक्षा की भी व्यवस्था की। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भगवान् कृष्ण इन गँवार गोपों की सहायता से बड़ी सरलता से कंस जैसे शौरसेन के दुष्ट नरेश का वध करने में सफल हुए।

हम इन्हीं बातों की चर्चा नीचे क्रमशः करेंगे।

साथ ही इस स्कन्ध के अध्याय "एक" में हमने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि भगवान् कृष्ण को कवियों ने अपनी रसीली भाषा में जो गोपियों का मार्ग रोकने वाला, माखन चोर एवं दहिचोर आदि लिखा है। इसका क्या रहस्य है। आगे श्रीकृष्ण की रासलीला पर भी प्रकाश डाला गया है।

अध्याय-एक

गोपों का प्रशिक्षण एवं उनकी आर्थिक अवस्था का सुधार :

अपने अलौकिक कार्यों के साथ ही साथ ही श्रीकृष्ण और बलराम ने गोपों की आर्थिक अवस्था के सुधार पर विशेष ध्यान दिया। गोप युवतियाँ अपनी गायों के दूध-दही

को अन्न और वस्त्र के लिए समीपस्थ नगरों एवं ग्रामों में बेचने जाया करती थीं। श्रीकृष्ण और बलराम ने सोचा, जब हमारे जंगलों में पर्याप्त भूमि है, तो क्यों न हम कृषि द्वारा स्वयं अन्न एवं कपास आदि उपजायें, जिससे हमें सरलतया अन्न और वस्त्र मिल जाया करें एवं अपनी गायों के दूध-दही को न बेचकर गोप लोग उनका स्वयं उपभोग किया करें, जिससे वे पूर्णतया हृष्ट-पुष्ट हो जायें। श्रीकृष्ण और बलराम की ये बातें गोपों को बहुत भायीं।

"हली" और "हलधर"

अब गोप लोग बड़े श्रम से कृषि कार्य में जुट गये। गोप युवकों ने हल चलाना प्रारम्भ किया। स्वयं भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलराम जी ने तो भगवान् कृष्ण के इस आदेश का इतनी रुचि के साथ पालन किया कि उन्होंने हल का अपने एक शस्त्र के रूप में भी प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इसी से बलराम जी "हली"और "हलधर"नामों से प्रसिद्ध हो गये।

गोपियों का मार्ग रोकने वाला :

अब गोपों के अपने खेतों में ही अन्न उपजने लगा, तो गोप युवतियाँ अपना दूध-दही पास के ग्रामों या नगरों में ले जाकर बेचना बन्द करने लगीं, फिर भी कुछ युवतियाँ जब अपना दूध-दही बेचने के लिए समीप के ग्रामों या नगरों में ले जाती थीं तो श्रीकृष्ण अपने बहुत से नटखट गोप बालकों की टोली के साथ इन गोप युवतियों का मार्ग रोक कर उनकी दूध-दही की मटकियाँ छीन लिया करते थे और दूध-दही खा-पी जाया करते थे।

गोप युवतियाँ श्रीकृष्ण के इस कार्य से खिन्न तो होती थीं, फिर भी उन्हें यह अच्छा ही लगता था।

धीरे-धीरे गोप युवतियों ने अपना दूध-दही समीप के ग्रामों या नगरों में ले जाकर बेचना बन्द कर दिया और गोप लोग अपना दूध-दही स्वयं खाने-पीने लगे।

कवियों ने श्रीकृष्ण द्वारा गोप युवतियों का उपर्युक्त प्रकार से मार्ग रोककर उनका दूध-दही अपने नटखट साथियों के साथ खा जाने की घटनाओं का बड़ी रसीली भाषा में वर्णन किया है और उन्हें "गोपियों का मार्ग रोकने वाला" लिखा है।

माखन चोर एवं दधि चोर :

श्रीकृष्ण और बलराम अपने साथी गोप बालकों को सिखलाया करते थे कि तुम लोग अपने घर की बहनों और भाभियों आदि को दूध-दही नगर में ले जाकर बेचने से रोको और बेचने के लिए रखे हुए दूध-दही को स्वयं खा-पी जाया करो।

बालक कृष्ण बड़े ही हँसमुख और मधुर स्वभाव के थे इसी से गोप युवक, युवतियाँ उनसे इतना हिल-मिल गये थे कि वे सबके घरों में बिना रोक-टोक दिन में ही नहीं वरन् रात में भी घुस जाया करते थे और अपने व्यवहारों से उनका मन मोह लिया करते थे।

इस स्थिति से लाभ उठाकर कृष्ण जी कभी-कभी अकेले ही और कभी-कभी अपने नटखट कई साथियों के साथ किसी गोपी के घर में घुस जाते थे और नगर में बेचने के लिए जो दूध-दही वह रखे रहती थी, उसे चुराकर स्वयं या अपने नटखट साथियों के साथ बाँटकर खा-पी जाया करते थे। गोपियाँ श्रीकृष्ण जी की इस नटखटता से खिन्न तो होती थी, किन्तु यह उन्हें फिर भी अच्छा ही लगता था। नटखट कृष्ण जी के इन्हीं कार्यों का वर्णन कुछ कवियों ने अपनी रसीली भाषा में किया है और उन्हें "माखन चोर", एवं "दधि चोर" आदि नामों से अभिहित किया है।

भगवान् कृष्ण के रास लीला सम्बन्धी काव्य :

भगवान् कृष्ण की रासलीला के विषय में कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। इस प्रसंग में कवियों का जो भी उद्देश्य रहा हो, किन्तु आजकल तो रासलीला सम्बन्धी काव्यों को लेकर जनता में बहुत सी भ्रान्तियाँ फैल गयी हैं, अतः इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से जान लेना आवश्यक है।

गोपों की मोदमयी संस्कृति :

रासलीला के सम्बन्ध में पूर्णतया समझने के लिए पहले हमें श्रीकृष्ण तथा गोप युवक, युवतियों के बीच सम्बन्ध को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, गोपों की संस्कृति के अनुसार गोप युवक-युवतियों का एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर नाचना-गाना उनकी संस्कृति का एक अंग-सा बन गया था। श्रीकृष्ण ने इस संस्कृति को और अधिक चमका दिया।

बात यह थी कि श्रीकृष्ण बंशी या मुरली बजाने में बड़े निपुण थे। जब वे अपनी मुरली बजाते थे, तो मनुष्य ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी भी झूमने लगते थे और उन्हें एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होने लगती थी। इसी से श्रीकृष्ण का अपनी बाँसुरी को बजाना और फिर उसकी ताल पर गोप युवक, युवतियों का नाचना गाना उन्हें इतना प्रिय था कि जब अपने कामों से अवकाश पाते थे, तो श्रीकृष्ण का अपनी मुरली को बजाना और उसके ताल पर गोप युवक, युवतियों का नाचना-गाना प्रतिदिन का एक नियम-सा बन गया था।

रास लीला :

श्रीकृष्ण मुरली बजाने में बड़े प्रवीण थे, जब वे अपनी मुरली बजाते थे तो मनुष्य ही नहीं वरन् पशु-पक्षी भी उनकी वंशी की तान पर झूमने लगते थे। जब गोप युवक और युवतियाँ संध्या को अपने कार्यों से अवकाश पाते थे, तब रात में खा-पीकर स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण यमुना जी के तट पर या किसी समधान में अपनी बंशी बजाते थे। बंशी की ध्वनि सुनते ही गोप युवक और युवती सभी वहीं एकत्र हो जाते थे और एक-दूसरे के साथ नाचने-गाने लगते थे, ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक यूरोपीय युवक एवं युवतियाँ दोनों एक-दूसरे से मिलकर नाचते गाते हैं। इसे ही "रासलीला' कहते थे।

इन रास लीलाओं का व्रज की गोपियों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि वे भगवान् कृष्ण से प्रेम करने लग गयी थीं, किन्तु उनका यह प्रेम सर्वथा सात्विक था। इसमें शारीरिक भोग विलास का लेश मात्र भी नहीं था। इसी से जब भगवान् कृष्ण व्रज छोड़कर कंस से लड़ने के लिए मथुरा चले गये और फिर राजनीतिक कारणों से वहीं स्थिर ही हो गये, तो उन गोप युवतियों ने अपना विवाह ही नहीं किया। सभी गोप युवतियाँ श्रीकृष्ण के विरह में कृष्णमय हो गयीं। कृष्ण के विरह में गोपियाँ ऐसी उदात्त अवस्था को प्राप्त हो गयी थीं कि उनके मुखों से जो वाणी निकलती थी, वह जनता को श्रीकृष्ण ही की वाणी प्रतीत होती थी एवं जनता पर उसका वैसा ही प्रभाव पड़ता था, जैसा श्रीकृष्ण की वाणी का पड़ता था।

इस स्थिति का अनुभव उन्हीं लोगों को हो सकता था, जो इतनी उच्च कोटि के सात्विक प्रेमी हों। मन में सात्विक भाव के भर जाने से मनुष्य में एक प्रकार का आर्कषण उत्पन्न हो जाता है। पाठकों को अनुभव होगा कि एक ही उपदेश वाक्य को जब दो व्यक्ति बोलते हैं तो उस व्यक्ति का जनता पर अधिक प्रभाव पड़ता है, जो अधिक सात्विक होता है। गोपियाँ इसी रूप में भगवान् कृष्ण के सन्देशों का जनता में प्रचार करती थीं। इसी से उनके प्रचार का जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता था कि शौरसेन राज्य की सारी जनता वरन् स्वयं कंस की सारी सेना भी भगवान् कृष्ण और बलराम की ओर हो गयी थी और भगवान् कृष्ण को कंस का वध करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

गोपियों की कृष्णमयी अवस्था और उद्धव जी :

कवियों ने गोपियों की कृष्णमयी अवस्था का वर्णन बड़ी रसीली भाषा में किया है। पुराणों के अनुसार, "भगवान् कृष्ण जब मथुरा में स्थिर हो गये, तो उन्होंने अपने परम् मित्र एवं मन्त्री को जिनका नाम उद्धव था, व्रज (नन्दगाँव) वृन्दावन आदि में विरहिणी गोपियों को समझाने-बुझाने के लिए भेजा। किन्तु जब उद्धव व्रज में गोपियों के पास पहुँचे तो उनकी कृष्णमयी अवस्था को देखकर वे उन्हें समझाना-बुझाना भूल गये, उल्टे उन्होंने स्वयं गोपियों की उस अवस्था से शिक्षा ग्रहण की। "भगवान् कृष्ण को गोपियों को उद्धव द्वारा सन्देश का वर्णन व्रज साहित्य या हिन्दी साहित्य की एक विधा ही बन गया है।

गोप युवक, युवतियों को सभ्य बनाना :

भगवान् कृष्ण और बलराम गोप युवक, युवतियों को सभ्य बनाने, उन्हें निर्भीक बनाने तथा शारीरिक दृष्टि से बहुत ही हृष्ट-पुष्ट बनाने वरन् आवश्यकता पड़ने पर युद्ध कर सकने की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देते थे। उन्होंने गोप युवक-युवतियों में व्याप्त अंध विश्वासों को दूर किया। गोप लोग जो प्रतिवर्ष इन्द्र की पूजा इसी अन्धविश्वास से करते थे कि यदि इन्द्र की पूजा न की जाय तो वे अतिवृष्टि करके व्रज को बहा ले जायेंगे गोपों के इस अन्ध विश्वास को कैसे कृष्ण एवं बलराम ने दूर किया? इसकी चर्चा हम ऊपर गोवर्धन धारण शीर्षक के नीचे कर ही चुके हैं।

चीर हरण लीला :

भगवान् कृष्ण एवं बलराम ने गोप युवक, युवतियों में फैली हुई कुछ कुरीतियों को दूर करके उन्हें सभ्य बनाया। उदाहरण के लिए गोप युवतियाँ प्रायः एक ही साड़ी या वस्त्र धारण करती थीं। इसी से वे अपनी साड़ियाँ उतारकर यमुना जी में या सरोवरों में नंगी नहाया करती थी। श्रीकृष्ण और बलराम उन्हें सिखलाते थे कि तुम लोग स्वयं चरखा से सूत कातकर अपने लिए कम से कम दो साड़ियाँ तैयार करा लिया करो। किन्तु वे आलस्य वशात् इस ओर ध्यान नहीं देती थीं। अतः उन्हें सीख देने के लिए एक बार भगवान् कृष्ण ने एक युक्ति की। जब गोप युवतियाँ यमुनाजी के तट पर अपनी साड़ियों को उतार करके रखकर जल में स्नान करने के लिए घुसीं, तो भगवान् कृष्ण ने उन सबकी साड़ियाँ एकत्र कर लीं और उन्हें लेकर एक कदम के वृक्ष पर चढ़ गये एवं इस प्रकार मुख फेर कर बैठ गये कि वे उनका नग्न शरीर न देख सके। भगवान् कृष्ण ने गोप युवतियों को उनकी साड़ियाँ तभी लौटायीं, जब वे देर तक जल में नंगी खड़ी जड़ाती रहीं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से प्रतिज्ञा की कि फिर हम कभी नंगी होकर नदी में नहीं नहायेंगी।

कवियों ने भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त कार्य को "चीर हरण लीला" का नाम देकर बड़ी ही रसीली भाषा में वर्णित किया है।

यादवों को सैनिक शिक्षा :

भगवान् कृष्ण और बलराम ने यादवों को जो पहले निपट गंवार और असभ्य थे, अब पूर्णतया सभ्य बना दिया। उन्होंने यादवों में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों को दूर करके उन्हें प्रशिक्षित किया।

धीर-धीरे भगवान् कृष्ण और बलराम के अलौकिक कार्यों एवं सुधार कार्यों की ख्याति समस्त शौरसेन में फैल गयी। सभी यादव भगवान् कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानने लगे। अब भगवान् कृष्ण ने सोचा कि यदि हमें कंस का विनाश करना है, तो हमारे पास एक बलिष्ट सेना भी होनी चाहिए। अतः उन्होंने शूरसेन के समस्त यादव युवकों को सैनिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। परिणामतः सहस्रों यादव युवकों की एक शक्तिशाली सेना उदित हो गयी, जो भगवान् कृष्ण के आदेश पर नर मिटने के लिए सदैव उद्यत रहती थीं।

अध्याय दो

भगवान् कृष्ण के विषय में वास्तविकता का ज्ञान

शिवयज्ञ एवं दंगल का आयोजन और कंस का वध :

प्राक्कथन :

अध्याय एक में संक्षेप में बतलाया गया है कि किस प्रकार भगवान कृष्ण ने गोप जाति की अवस्था को सुधार कर उसे एक बलिष्ट जाति बना दिया, जिससे वे कंस के वध में सफल हुए।

(35)

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार कंस अपने पसपशों द्वारा श्रीकृष्ण और बलराम के कार्य–कलापों को जानकर बहुत चिन्तित हुआ और उसने मथुरा में शिव जी के धनुर्यज्ञ एवं दंगल का आयोजन करके अपने राज्य के सभी सामन्त नरेशों को इस अवसर पर उपस्थित होने के लिए निर्मंत्रित किया तथा दंगल स्थली में ही वह भगवान् कृष्ण द्वारा मार डाला गया। उसके आठ भाई भी भगवान् कृष्ण के द्वारा मार डाले गये।

अन्त में भगवान् कृष्ण शौरसेन के सर्वेसर्वा मान लिए गये। अब कंस के परिवार का कोई शेष नहीं बचा था। उसकी धर्म पत्नियाँ अस्ति और पुस्ति अपने पिता जरासन्ध के घर मगध देश में चली गयीं।

भगवान् कृष्ण के विषय में वास्तविकता का ज्ञान :

कंस को अपने पसपशों से भगवान् कृष्ण के कार्य–कलापों के विषय में सूचना बराबर मिलती रहती थी। जब उसे अपने पसपशों से यह•बात ज्ञात हो गयी कि कृष्ण और बलराम श्री वसुदेव और देवकी के ही पुत्र हैं तो उसके क्रोध का कोई ठिकाना ही नहीं रहा। उसने श्री वसुदेव और देवकी को तुरन्त कारागार में डाल दिया।

जब कंस को यह भी ज्ञात हुआ कि यादव लोग शस्त्रास्त्र चलाने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं तो वह और भी अधिक चिन्तित हुआ। अब उसने अपने दुष्ट मंत्रियों एवं साथियों की एक सभा बुलवायी और सबके परामर्श से यह निश्चय किया कि भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए शिव जी के 'धनुर्यज्ञ' का आयोजन किया जाये। यज्ञ के अवसर पर एक दंगल का भी आयोजन किया जाये और उसमें शौरसेन के सभी सामन्त नरेशों एवं महापुरुषों को उपस्थित होने के लिए निमन्त्रित किया जाये।

नन्दगाँव के नन्दजी को तो विशेषतया कृष्ण और बलराम के साथ यज्ञ और दंगल के अवसर पर उपस्थित होने के लिए निर्मंत्रित किया जाय। कंस की योजना थी कि जब कृष्ण और बलराम दंगल स्थली में प्रवेश करने लगेंगे, तो पहले तो मैं अपने कुबलयापीड नामक हाथी से जो दंगल स्थली के द्वार पर स्थित रहेगा। उन्हें मरवा डालूँगा और यदि वे कुबलयापीड से बच ही गये, तो दंगल में मेरे चाणूर और मुष्टिक जैसे पहलवान तो उन्हें मार ही डालेंगे। श्रीकृष्ण और बलराम के मार डाले जाने के पश्चात् मैं अपने पिता, उनके भाई देवक तथा श्री वसुदेव और देवकी आदि को भी मार डालूँगा। इस प्रकार शौरसेन को निष्कंटक करके राज्य करुँगा।

श्री अक्रूरजी को नन्द गाँव भेजना :

कंस ने सबसे पहले अक्रूरजी नामक अपने एक पदाधिकारी को जो श्रीकृष्ण के दूर के चाचा भी लगते थे। इस लिए व्रज (नन्द गाँव) आदि में भेजा कि तुम जाकर समस्त नन्दों को मेरे धनुर्यज्ञ और दंगल में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करो तथा कृष्ण और बलराम को तो अपने साथ ही लाओ। श्री अक्रूरजी बड़े धार्मिक प्रकृति के थे तथा भगवान कृष्ण और बलराम के चाचा लगते थे। वे कंस की सभा में इसलिए रह गये थे कि उनमें जनता की बड़ी श्रद्धा थी।

कंस ने अपने सभी सामन्त नरेशों और नन्दों को श्री अक्रूर के द्वारा ही शिव जी के धनुर्यज्ञ एवं दंगल के अवसर पर उपस्थित होने के लिए निमन्त्रित किया था। मथुरापुरी की इतनी बड़ी सजावट की गयी, जितनी पहले कभी नहीं की गयी थी।

श्री अक्रूर जी के साथ कृष्ण और बलराम का मथुरा को प्रस्थान :

श्री अक्रूर जी कृष्ण और बलराम का दर्शन करके तथा नन्द और यशोदा आदि से मिलकर बहुत ही प्रभावित हुए। जब अक्रूर जी का रथ व्रज से मथुरा की ओर चला तो उनके साथ श्रीकृष्ण और बलराम भी बैठे थे और नन्द लोग अपने प्रतिष्ठित गोपों के साथ विभिन्न रथों पर अक्रूर जी के रथ के पीछे-पीछे मथुरा चले।

श्रीकृष्ण की विदायी और योगिनी राधा :

जिस समय श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा जाने के लिए गोपियों से विदा होने लगे, उस समय का दृश्य बड़ा ही मार्मिक था। कृष्ण के प्रेम के कारण सभी गोपियाँ कृष्णमय हो रही थीं और राधा जी के विषय में तो क्या कहा जाये? बात यह थी कि भगवान् कृष्ण नन्दगाँव के श्रीनन्द के पुत्र थे और राधिका जी बरसाना नामक गाँव के श्री ''वृषभानु'' नामक नन्द की पुत्री थी, अतः कृष्ण और राधा का मिलन एक राजकुमार तथा एक राजकुमारी का मिलन था। दोनों एक-दूसरे से इतना अधिक प्रेम करने लग गये थे कि राधा जी कृष्णमयी ही नहीं हो गयी थीं, वरन् वे भगवान् कृष्ण के समान आचरण भी करने लग गयीं थीं। वे भगवान् कृष्ण के समान ही वनमाल और सरली तथा पीताम्बर आदि धारण करती थीं। भगवान् कृष्ण के विरह में तो वे पागल-सी हो गयीं, फिर भी आगे चलकर उन्होंने अपने को सँभाला और एक योगिनी की भाँति शौरसेन राज्य में घूम-घूमकर कृष्ण के सन्देशों का प्रचार प्रसार करने लगीं।

श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा मथुरा नगरी की सजावट को देखना :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मथुरापुरी यज्ञ और दंगल के आयोजनों के कारण बहुत ही सजायी गयी थी। यज्ञ तथा दंगल में भाग लेने के लिए मथुरा में पहुँचे सभी लोग नगरी की सजावट को घूम-घूम कर देखने लगे। श्रीकृष्ण और बलराम भी अपने बहुत से गोप युवक साथियों के साथ मथुरा नगरी की सजावट देखने के लिए नगर में घूमने लगे।

श्रीकृष्ण और बलराम का मथुरा नगरी में घूमना :

जब कृष्ण और बलराम अपने गोप युवक साथियों के साथ मथुरा नगरी में घूम रहे थे, तो मथुरा के लोग कंस का भय छोड़कर उनका ऐसा आदर स्वागत करने लगे, मानों वे ही मथुरा के नरेश हों। उदाहरण के लिए कंस के तन्तुवाय (जुलाहा) ने कंस के सहस्रों वस्त्रों को जिन्हें उसका रजक (धोबी) धोकर एवं रंग करके उसके पास ले जा रहा था, उन्हें काट-छाँटकर कृष्ण एवं बलराम के साथ घूमते हुए उनके सभी गोप साथियों को पहना दिया। कंस के रजक से इन समस्त वस्त्रों को कृष्ण और बलराम ने इसलिए मारकर छीन लिया था कि वह इन दोनों भाइयों की हँसी उड़ा रहा था।

(37)

चन्दन घिसने वाली दासी "कुब्जा" :

ऐसे ही चन्दन घिसने वाली कंस की दासी जब कटोरी में चन्दन लेकर कंस के पास जा रही थी तो उसने भगवान् कृष्ण और बलराम को देखकर अपने चन्दन का लेप इन्हीं के ललाटों पर कर दिया। कंस के भय का उसे कुछ भी ध्यान नहीं रहा। सम्पूर्ण मथुरा नगरी में उपर्युक्त तन्तुवाय की एवं कंस की चन्दन घिसने वाली दासी की, जिसका नाम कुब्जा था, बहुत चर्चा एवं प्रशंसा होने लगी। इन सब बातों को देख-सुनकर कंस को पूर्ण विश्वास हो गया कि यदि कृष्ण और बलराम मुझ पर आक्रमण करेंगे तो न तो नगर वाले और न तो मेरे अनुचर ही मेरी रक्षा करेंगे। कंस के सैनिक भी कृष्ण और बलराम के विरुद्ध कुछ करने से डरने लग गये थे, जिसका कारण आगे ज्ञात होगा।

शिवजी के धनुष का भंग :

जब कृष्ण और बलराम अपने बहुत से यादव-युवकों के साथ मथुरा नगरी में घूम रहे थे, तो उस समय एक और बड़ी भारी बात घटित हुई, जिससे कंस तो बहुत डर ही गया, उसके सैनिक भी अत्यन्त हतोत्साह हो गये। हुआ यह कि शिवजी के लिए "धनुर्यज्ञ" के प्रसंग में कंस ने यज्ञशाला में एक बड़ा भारी धनुष स्थापित करा दिया था। वह धनुष इतना बड़ा था कि उसे कंस के सैनिकों में से कोई भी या दो चार मिलकर भी उठा नहीं सकते थे। उसकी प्रत्यंचा चढ़ाना तो असंभव-सा था। जब कृष्ण और बलराम नगर में घूमते-घामते यज्ञस्थल में रखे उस धनुष के पास पहुँचे, तो उन्होंने धनुष के विषय में वहाँ विद्यमान सैनिकों से पूछ-ताछ की। जब सैनिकों ने बतलाया कि "इस शिव धनुष की प्रत्यंचा को चढ़ा सकने की बात को तो छोड़िए, हम सैनिकों में से दो-चार मिलकर भी इसे उठा नहीं सकते हैं, तो यह सुनकर श्रीकृष्ण और बलराम बहुत हँसे और श्रीकृष्ण ने खेल ही खेल में "शिव धनुष" को उठाकर उसकी प्रत्यंचा चढ़ा दी, जिससे धनुष एक भयंकर शब्द के साथ टूट गया।

धनुष के टूटने के शब्द को सुनकर मथुरा में बड़ा कोलाहल मचा और कंस तो उसे सुनकर संज्ञा शून्य-सा हो गया। उसके सैनिक भी जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस घटना से अत्याधिक डर गये। अब मथुरा वाले भगवान् कृष्ण को निश्चित प्रकार से एक अवतारिक महापुरुष मानने लगे और कंस के सैनिक तो कृष्ण और बलराम के बल को देखकर सर्वथा निरुत्साह हो गये।

दंगल का आरम्भ और कंस का वध :

अगले दिन शौरसेन के समस्त सामन्त नरेशों एवं महापुरुषों की उपस्थिति में दंगल या मल्लयुद्ध की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। कंस ने अपने महावत को समझा रखा था कि तुम कुबलयापीड नामक सबसे बलिष्ट हाथी को दंगल-स्थली के प्रवेश द्वार पर ही खड़ा रखना और जैसे ही कृष्ण तथा बलराम दंगल-स्थली में प्रवेश करने लगें, वैसे ही तुम हाथी से उन पर आक्रमण करा देना, जिससे वे तुरन्त मर जायें। तद्नुसार ही महावत ने दंगल की स्थली के प्रवेश द्वारा से प्रवेश करते हुए कृष्ण और बलराम को देखकर उन

पर अपने हाथी से आक्रमण करवा दिया, किन्तु उन्होंने हाथी के आक्रमण को विफल कर दिया और उसे बिना प्रयास के ही मार डाला एवं हाथी के दोनों दांतों को उखाड़कर एक को कृष्ण ने और दूसरे को बलराम ने अपने हाथों में ले लिया तथा इसी रूप में उन्होंने दंगल स्थली में प्रवेश किया। सभी लोग आश्चर्य के साथ यह लीला देखते रहे।

इसके पश्चात् चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल एवं तोषल नामक शौरसेन के बलिष्ठतम मल्ल श्रीकृष्ण और बलराम से बारी-बारी से लड़ने के लिए आये और उनको भी उन्होंने मार डाला। अब तो कंस के शेष मल्ल भाग खड़े हुए और उसकी ओर से लड़ने वाला और कोई रह नहीं गया। इस पर कंस ने अपने सैनिकों को आदेश दिया-"सुनो, तुम लोग तुरन्त श्रीकृष्ण और बलराम को पकड़कर नगर से बाहर निकाल दो तथा नन्द गाँव के नन्द आदि को बन्दी बना लो एवं मेरे पिता उग्रसेन तथा वसुदेव और देवकी को मार डालो। ये सब मेरे शत्रु हैं और परस्पर मिले हुए हैं। "कंस इसी प्रकार बड़बड़ा ही रहा था कि श्रीकृष्ण कूदकर कंस के ऊँचे सिंहासन पर चढ़ गये और उसे भूमि पर गिरा दिया। कंस अपनी तलवार और ढाल लेकर श्रीकृष्ण से लड़ने के लिए उद्यत हुआ, किन्तु अन्त में श्रीकृष्ण ने उसे मार डाला।

कंस की मृत्यु पर उसके छोटे आठ भाई भी श्रीकृष्ण और बलराम से द्वन्द्व युद्ध के लिए आये और उनको भी इन्होंने मार डाला। अब कंस की ओर से कृष्ण और बलराम का प्रतिरोध करने वाला कोई नहीं रहा। कंस के सैनिक मौन खड़े सब कुछ देखते रहे। अब सभा में उपस्थित सभी लोगों ने मान लिया कि कंस मार डाला गया है और श्रीकृष्ण तथा बलराम शौरसेन के सर्वेसर्वा हो गये हैं।

श्री उग्रसेन जी का सिंहासनारूढ़ होना :

आगे की कथा स्पष्ट है। श्रीकृष्ण और बलराम ने अपने नाना (असगात्र नाना) महाराज उग्रसेन, अपने पिता वसुदेव जी तथा अपनी माता देवकी जी को जेल से मुक्त किया। श्री उग्रसेन जी शौरसेन के सिंहासन पर बैठे। कंस और उसके भाइयों की अन्त्येष्टि की गयी।

जब श्रीकृष्ण और बलराम अपने पिता वसुदेव जी और माता देवकी से मिले तो जहाँ ये लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए वहीं श्रीकृष्ण जी अपनी धर्ममाता यशोदा और नन्द गाँव के गोप-गोपियों का स्मरण करके बहुत ही दुःखी हुए। रोते हुए नन्द बाबा को कृष्ण और बलराम ने पूर्ण आदर-सत्कार के साथ बहुत अधिक धन देकर नन्दगाँव के लिए विदा किया।

अब शौरसेन में कंस के परिवार का कोई भी शेष नहीं बचा। उसकी धर्म पत्नियाँ अस्ति और पुस्ति अपने पिता जरासन्ध के घर मगध देश में चली गयीं।

कृष्ण और बलराम का उपवीत संस्कार :

अब श्री वसुदेव जी ने अपने पुरोहित गर्गमुनि को बुलवाया तथा श्रीकृष्ण और बलराम का उपवीत संस्कार करवाया और दोनों भाई विद्याध्ययन के लिए श्री सान्दीपनि नामक आचार्य के घर गये, जो उस समय अवन्ती (आधुनिक उज्जैन) में रह रहे थे।

स्कन्ध 'पाँच'

यादव साम्राज्य की स्थापना और उसका दृढ़ीकरण (भगवान् कृष्ण के स्वयंवर विवाहों द्वारा)

प्राक्कथन :

इस स्कन्ध में बतलाया गया है कि कंस के वध के पश्चात् किस प्रकार जरासन्ध ने शौरसेन राज्य पर अट्ठारह बार आक्रमण करके यादवों को मथुरा से पलायन के लिए विवश किया, फलतः सहस्रों यादव जन नेताओं ने मथुरा से पश्चिम की ओर बढ़ते हुए एक सहस्र कि०मी० की दूरी पर स्थित क्षीर सागर (आधुनिक अरब सागर) के तट पर अपने द्वारका नामक स्थान पर एक यादव साम्राज्य की स्थापना कर डाली और फिर उसे भारतवर्ष का एक बलिष्टतम् राज्य बना दिया।

भगवान् कृष्ण ने छोटे या निर्बल राज्यों को जीतकर उन्हें अपने यादव साम्राज्य में मिलाने के द्वारा यादव साम्राज्य को दृढ़ ही नहीं बनाया वरन् अपने स्वयंवर विवाहों के द्वारा अन्याय प्रकार से अपने यादव साम्राज्य को दृढ़ किया। भगवान् कृष्ण को जो युद्ध करने पड़े वे इन्हीं विवाहों के प्रसंग में हुए।

अध्याय-एक 'क'

जरासन्ध द्वारा मथुरा पर सत्तरह बार आक्रमण :

इधर कंस के वध के पश्चात् उसकी दोनों पत्नियाँ "अस्ति" और "पुस्ति" अपने पिता जरासन्ध के मगध राज्य में चली गयीं और उसे सारी बातें बतला दीं।

जरासन्ध एक बड़ा ही दुष्ट एवं अत्याचारी नरेश था। उसने कंस के वध की बात सुनकर निश्चय किया कि अब मैं श्रीकृष्ण एवं उनके साथी गोपों का विनाश करके ही रहूँगा। जब तक भगवान् कृष्ण और बलराम गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते रहे, तब तक ही वह शान्त रहा, किन्तु जैसे दोनों भाई पुनः मथुरा लौटे, वैसे ही उसने मथुरा पर आक्रमण कर दिया। परन्तु कृष्ण और बलराम ने अपने गोपों की सेना के साथ जरासन्ध का प्रतिरोध किया तथा उसे मथुरा से मार भगाया। ऐसे ही जरासन्ध ने मथुरा पर सत्तरह बार आक्रमण किया और प्रत्येक बार भगवान् कृष्ण एवं बलराम ने उसे पराजित किया। अब उसने बहुत बड़ी तैयारी के साथ मथुरा पर अट्ठारहवीं बार आक्रमण किया। इस बार जरासन्ध की सेना इतनी बड़ी एवं सुसज्जित थी कि उसे पराजित करना असंभव सा लगता था।

मथुरा पर जरासन्ध के अट्ठारहवें आक्रमण की योजना :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जरासन्ध बहुत बड़ी तैयारी के साथ मथुरा पर अपने अट्ठारहवें आक्रमण की योजना बनाने लगा। उसने कालयवन जैसे कुछ अनार्य नरेशों को भी इसलिए तैयार किया कि वे गोपों सहित श्रीकृष्ण का विनाश कर डालने के लिए उन पर आक्रमण करें।

यादव साम्राज्य की स्थापना का निश्चय : (40)

जब भगवान् कृष्ण ने जान लिया कि जरासन्ध बिना उनका और उनके गोप साथियों का विनाश किये हुए रहेगा नहीं, जैसी कि उसकी प्रकृति थी, तो उन्होंने अपने जन नेता गोपों के साथ मथुरा को छोड़कर पश्चिम की ओर एक सहस्र किलोमीटर बढ़ते हुए क्षीर सागर (आधुनिक अरब सागर) के तट पर यादवों के एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना का निश्चय किया और एतदर्थ आवश्यक कार्यवाही भी प्रारम्भ कर दी।

उस युग में क्षीर सागर के उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत सम्पूर्ण तट पर पिछड़ी हुई जातियों के ही लोग बसते थे। कृष्ण भगवान् ने पूर्ण अध्ययन करके जान लिया कि इन पिछड़ी हुई जातियों पर बड़ी सरलता से एक दृढ़ राज्य की स्थापना की जा सकती है और इन जातियों को प्रशिक्षित करके कृषि आदि के द्वारा उन्हें बहुत ही समृद्ध बनाया जा सकता है।

द्वारकापुरी का निर्माण :

भगवान् कृष्ण ने आधुनिक गुजरात के कच्छ प्रदेश के उत्तर में स्थित क्षीर सागर (आधुनिक अरब सागर) में तट से थोड़ी ही दूर पर स्थित एक छोटे से द्वीप का भी पता लगा लिया और इस पर उन्होंने अपने एक दुर्गागार नगर की स्थापना भी करनी प्रारम्भ कर दी तथा उसका नाम द्वारका रखा।

अब भगवान् कृष्ण मथुरा से अपने सहस्रों नेता यादवों के साथ क्षीर सागर के तट पर प्रवजन करना और द्वारका में जमना प्रारम्भ कर दिया।

ज्ञातव्य है कि त्रेतायुग में ही महाराज शर्याति के वंशज महाराज आनर्त ने क्षीर सागर पर अपने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था और इस प्रसंग में उन्होंने आधुनिक गुजरात के कच्छ प्रदेश में अपने नाम पर आनर्त देश नामक एक छोटे से राज्य की स्थापना भी कर डाली थी एवं आधुनिक द्वारका के समीप ही क्षीर सागर के तट पर एक नगर की स्थापना भी कर डाली थी, किन्तु इस दिशा में वे और आगे नहीं बढ़ सके थे।

कालयवन का आक्रमण :

जब भगवान् कृष्ण मथुरा से क्षीर सागर के तट पर अपने सहस्रों गोपों के साथ प्रव्रजन कर रहे थे, तभी पहले कालयवन ने और उसके एकाध ही दिनों के पश्चात् जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया।

जरासन्ध के अट्ठारहवें आक्रमण से तीन-चार दिनों पूर्व ही उसके परामर्श से कालयवन ने मथुरा पर आक्रमण किया और यादवों को मथुरा से पलायन करते देखा। वह सोच ही रहा था कि अब मैं क्या करूँ? कि सहसा उसे साधारण नागरिकों के वेश में श्रीकृष्ण पलायन करते हुए दिखलायी पड़ गये, उसने तुरन्त हँसते हुए श्रीकृष्ण का पीछा करना प्रारम्भ किया।

(41)

भगवान् कृष्ण आगे-आगे दौड़ते हुए समीपस्थ पर्वत की मुचुकुन्द नामक एक गुहा में घुस गये। उस गुहा के विषय में यह बात प्रसिद्ध थी कि इसमें मुचुकुन्द नामक एक राजर्षि बीस वर्षों से सो रहे हैं और उन्हें यदि कोई जगायेगा, तो उनके देखते ही वह भस्म हो जायेगा। किन्तु कालयवन इस बात को नहीं जानता था। भगवान् कृष्ण ने गुहा में प्रवेश करके सोते हुए राजर्षि मुचुकुन्द के ऊपर अपना पीला उत्तरीय डाल दिया और छिपकर देखने लगे कि अब कालयवन क्या करता है? जब कालयवन ने राजर्षि मुचुकुन्द के ऊपर भगवान् कृष्ण का पीला उत्तरीय पड़ा देखा, तो उसने उन्हीं को कृष्ण समझ लिया और उनके समीप जाकर उन्हें एक लात मारी। बीस वर्षों से सोते हुए राजर्षि मुचुकुन्द जब उठे और अपनी क्रोध भरी दृष्टि कालयवन पर डाली तो वहीं वह भस्म हो गया। भगवान् कृष्ण हँसते हुए गुहा में से निकलकर पुनः मथुरा में प्रविष्ट हुए, जहाँ से गोप नर-नारी पलायन कर रहे थे। पुनः भगवान् कृष्ण ने भी बड़े भाई बलराम के साथ साधारण नागरिकों के वेश में पलायन करना प्रारम्भ किया। इसी बीच जरासन्ध भी अपनी अति विशाल वाहिनी के साथ मथुरा में आ धमका और उसने भगवान् कृष्ण एवं बलराम को साधारण नागरिकों के वेश में पलायन करते हुए पहचान कर उनका पीछा किया। भगवान् कृष्ण और बलराम दौड़कर एक दुर्गम पहाड़ी पर चढ़ गये, जिस पर चढ़ना जरासन्ध के सैनिकों के लिए अतिक्लिष्ट कार्य था। अतः जरासन्ध ने पहाड़ी के चारों ओर काष्ठ एकत्र करके उनमें आग लगा दी, जिससे कि वह पहाड़ी जलकर भस्म हो जाय और कृष्ण तथा बलराम जल कर नष्ट हो जायें, परन्तु दोनों भाई जले नहीं। वे अज्ञात मार्ग से पहाड़ी पर से उतरने में सफल हो गये और द्वारकापुरी पहुँच गये। इधर जरासन्ध ने समझ लिया कि कृष्ण और बलराम जल ही मरे होंगे तो वह भी मथुरा से लौट गया।

राजर्षि मुचुकुन्द की कथा :

ऊपर हमने राजर्षि मुचुकुन्द की चर्चा की है उनकी कथा बड़ी अद्‌भुत है, जो स्वल्प में इस प्रकार है–

जरासन्ध के अट्‌ठारहवे आक्रमण से बीस वर्ष पूर्व की कथा है। मुचुकुन्द नामक एक राजर्षि लगभग बीस वर्षों पूर्व अपने शत्रुओं से लड़ते हुए, उन्हें पराजित करके इतने श्रान्त हो गये कि उन्होंने किसी निर्जन पर्वत गुहा में सोने की इच्छा प्रकट की और मथुरा के समीप में स्थित वे एक गुहा में प्रवेश करके इतना सोये कि बीस वर्षों तक सोते ही रहे। उनके उत्तराधिकारियों ने उन्हें मृत समझकर उनके राज्य का कार्यभार संभाल लिया। राजर्षि मुचुकुन्द को यद्यपि लोगों ने मृत मान लिया था, किन्तु वे उस पर्वत की गुहा में एक जीवित पुरुष के समान सोते हुए लोगों को दिखलायी पड़ते थे, अतः लोग उन्हें जीवित ही समझते थे और वह गुहा मुचुकुन्द गुहा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी।

एक अद्‌भुत बात :

ऊपर हमने जो राजर्षि मुचुकुन्द की कथा लिखी है उनके विषय में हमने जो यह बतलाया है कि वे बीस वर्षों तक एक पर्वत की गुहा में सोते रहें। यह घटना

अत्याश्चर्यजनक है। अतः इसके विषय में पाठकों को कुछ बतला देना आवश्यक है।

राजर्षि मुचुकुन्द की कथा एक अद्भुत बात है, किन्तु इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएँ बहुत दीर्घ कालों के पश्चात् घटित होती रहती हैं। किन्तु उनका कारण वैज्ञानिक लोग अब तक समझ नहीं पाये हैं। आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के दिनों में भी एक ऐसी घटना घटित हुई थी। एक फ्रान्सीसी सैनिक, जो फ्रान्स के नरेश के पक्ष में प्रजाजनों के विरुद्ध लड़ रहा था, एक दिन युद्ध क्षेत्र में अतिक्लान्त होकर (थककर) विश्राम के लिए एक पहाड़ी की निर्जन गुहा में जाकर सो गया और उसकी निद्रा बीस वर्षों के पश्चात् ही टूटी, जब फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति समाप्त हो चुकी थी और देश में प्रजातन्त्र की स्थापना हो चुकी थी। यह बात फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के इतिहास में आज भी एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में उल्लिखित है।

फारस (ईरान) के इतिहास में भी ऐसी एक घटना का उल्लेख मिलता है, जो "असहाबेकहफ या सगेअसहाबेकहफ" के नाम से प्रसिद्ध है, जो संक्षेप में इस प्रकार है।

प्राचीन कालीन दकयानूस नामक एक नरेश बड़ा ही अत्याचारी था। उसके अत्याचारों से खिन्न होकर उसके अधिकारियों में से कई उच्चाधिकारी एक कुत्ते के साथ वन में आखेट करने के लिए गये और वहीं पर एक पर्वत की गुहा में सो गये तथा बीसों वर्षों तक सोते रहे और जब वे बीस वर्षों के पश्चात् जगे, तब तक दकयानूस का शासन समाप्त हो चुका था और उसके स्थान में जो नया नरेश हुआ था, उसी की मुद्राएँ (सिक्के) चलने लगी थीं। दकयानूस के उपर्युक्त अधिकारी जब जगे तो उन्हें बड़ी भूख लगी थी, अतः वे समीपस्थ के एक बाजार में भोजन करने के लिए एक भोजन विक्रेता की दुकान पर पहुँचे। किन्तु जब उन्होंने भोजन के पश्चात् दुकानदार को भोजन का मूल्य देना चाहा, तो उसने उनके सिक्कों को देखकर कहा, "अरे भाई यह तो दकयानूसी सिक्का है। अब तो दकयानूस का राज्य समाप्त हो चुका है। ये सिक्के कैसे तुम्हारे पास रह गये हैं? तभी से प्राचीन विचारों वाले लोगों का फारसी भाषा में आज "दकयानूसी" कहकर परिहास किया जाता है।

रणछोर :

अब हम यह स्कन्ध इस बात को लिखकर समाप्त करेंगे कि भगवान् कृष्ण को गिरिधारी मुरारी और केशिनिषूदन के साथ ही साथ 'रणछोर' भी क्यों कहते हैं। जब कृष्ण और बलराम अपने सहस्रों-सहस्रों गोपों के साथ मथुरा छोड़कर द्वारका को पलायन करने लगे तो भगवान् कृष्ण के शत्रु जरासन्ध और उसके साथियों ने उनकी हँसी उड़ाते हुए "रणछोर" कहना प्रारम्भ किया, क्योंकि भगवान् कृष्ण रण में लड़ना छोड़कर भाग खड़े हुए थे।

किन्तु पाठक जानते ही हैं कि अपने को 'रणक्षोर' कहलवाकर ही भगवान् कृष्ण ने द्वारका जैसे एक विशाल यादव-साम्राज्य की स्थापना की।

जरासन्ध से लड़ना छोड़कर भगवान् कृष्ण का द्वारका को पलायन करना एक अति महत्त्वपूर्ण राजनीतिक चाल थी।

अध्याय-एक 'ख'

भगवान् कृष्ण द्वारा द्वारका साम्राज्य की स्थापना

भगवान कृष्ण ने अपने सहस्रों यादव साथियों के साथ मथुरा से सहस्र किलोमीटर की दूरी पर स्थित क्षीर सागर (आधुनिक अरब सागर) के तट पर प्रव्रजन किया और वहाँ द्वारका नामक एक स्वतन्त्र एवं दृढ़ यादव साम्राज्य की स्थापना कर डाली।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है क्षीर सागर के तट पर उस युग में पिछड़ी हुई जातियों के लोग रहते थे, जिन्हें "गुर्जर" कहा जाता था। गुर्जर बहुत ही सीधे-सादे लोग थे और साधारण कृषि करके अपना जीवन वृत्त चला रहे थे। गुर्जरों को अब तक कोई ऐसा नेता नहीं मिला था जो उन्हें सुसंघठित करके उनके ऊपर एक राज्य की स्थापना कर डालता। भगवान् कृष्ण के साथी गोप यादव बड़े ही मधुर स्वभाव के थे। गुर्जरों से मिलकर यादवों ने उन्हें कृषि की उन्नत तकनीक में प्रशिक्षित किया और बड़ी सरलता से उन पर छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना कर डाली। यादवों के प्रशिक्षण से गुर्जर लोग थोड़े ही दिनों में अच्छी कृषि करने लगे और बहुत सम्पन्न हो गये। परिणामतः गुर्जर लोग गोपों से बहुत प्रेम करने लगे। अल्पकाल में ही क्षीर सागर के तट पर उत्तर से दक्षिण तक सैकड़ों छोटे-छोटे यादव राज्यों की स्थापना हो गयी। इन यादव राज्यों का केन्द्रीय राज्य द्वारकापुरी ही था, जहाँ भगवान कृष्ण श्री उग्रसेन जी एवं अपने यादव साथियों सात्यकि एवं अक्रूर आदि के साथ रहते थे। अल्पकाल में ही द्वारका के यादव साम्राज्य ने एक दृढ़ यादव संघ राज्य का रूप धारण कर लिया।

यादव संघ राज्य :

द्वारका का यादव साम्राज्य यादव राज्यों का एक संघ राज्य था। इस संघ के अध्यक्ष शौरसेन के पूर्व नरेश उग्रसेन जी थे एवं भगवान कृष्ण उनके सर्वोच्च सहायक थे। श्री अक्रूर जी यादव साम्राज्य के कोषाध्यक्ष बने और श्री सात्यकि सेनापति बने। द्वारका में भगवान् कृष्ण की जो सेना रहती थी, उसे "नारायणी" सेना कहा जाता था।

आगे पाठक पढ़ेंगे कि जब भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध में कौरवों एवं पाण्डवों दोनों को सहायता देने का निश्चय किया तो इसी नारायणी सेना का एक अंश उन्होंने कौरवों को सहायतार्थ दे दिया जबकि पाण्डवों के सहायक के रूप में भगवान् कृष्ण स्वयं अर्जुन के सारथी बनकर कार्य करने लगे।

अध्याय-दो

भगवान कृष्ण की भावी योजना :

द्वारका में स्थिर होकर भगवान् कृष्ण अपनी भावी योजना बनाने लगे। भगवान् कृष्ण एक अवतारिक पुरुष थे। उन्होंने भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर लिया था। उन्होंने जान लिया था कि भारतवर्ष के आधुनिक सभी राजे-महाराजे दुष्ट एवं असत्याचारी हो गये हैं। वे अपनी प्रजा के हित का कुछ भी ध्यान

नहीं रखते हैं। ये राजे-महाराजे इतने दुष्ट स्वभाव के हो गये हैं कि उनको समझा-बुझा कर सन्मार्ग पर नहीं लाया जा सकता है। अतः भारत की प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि ''वर्तमान सभी भारतीय दुष्ट राजाओं-महाराजाओं का किसी एक महायुद्ध द्वारा विनाश करा दिया जाय, तभी भारत की प्रजा का हित होगा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान् कृष्ण ने पहले यादव साम्राज्य को दृढ़ करने का निश्चय किया।

यादव-साम्राज्य का दृढ़ीकरण :

यादव साम्राज्य में जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पिछड़ी जाति के लोग ही अधिक थे। पहले भगवान् कृष्ण ने उन्हें कृषि और शिल्प आदि में प्रशिक्षित कराना प्रारम्भ किया। अल्पकाल में ही ये जातियाँ बहुत अच्छी कृषि करने लगीं और विभिन्न प्रकार के शिल्पों आदि के प्रचार-प्रसार से बहुत समृद्ध हो गयीं तथा अल्पकाल में ही यादव साम्राज्य एक दृढ़ साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया।

यादव-साम्राज्य की शक्ति वृद्धि के लिए स्वयंवरों में भाग लेना : (भगवान् कृष्ण और बलराम के विवाह)

यादव साम्राज्य के शक्तिवर्धन के लिये भगवान् कृष्ण अकारण निर्बल राजाओं-महाराजाओं को जीतकर अपने साम्राज्य का शक्तिवर्धन करना उचित नहीं मानते थे। जब उन्होंने देखा कि आजकल नरेश लोग प्रायः अपनी पुत्रियों या बहनों के विवाह के लिये स्वयंवर सभाएँ आयोजित किया करते हैं और इन स्वयंवर सभाओं में प्रायः नरेशों में युद्ध हो जाया करते हैं तो यदि मैं भी स्वयं सभाओ में सम्मिलित हुआ करुँ तो नरेशों के साथ अनायास ही मुझे युद्ध करने का अवसर प्राप्त हो जाया करेगा और फिर उन्हें जीतकर मैं अपने यादव साम्राज्य की शक्ति बढ़ा लूँगा। बस, भगवान् कृष्ण ने स्वयंवर सभाओं में सम्मिलित होते रहने का निश्चय किया।

दैवात् उन्हें विदर्भ देश के एक बलिष्ट नरेश महाराज भीष्मक की पुत्री के स्वयंवरोत्सव में भाग लेने का अवसर अपने आप प्राप्त हो गया, जिसका फल यादव साम्राज्य को ही हुआ। किन्तु महाराज भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के स्वयंवरोत्सव में भगवान् कृष्ण के भाग लेने के विषय में बतलाने के पहले हम श्री बलराम जी के विवाह की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् रुक्मिणी जी के स्वयंवरोत्सव में भगवान् कृष्ण के सम्मिलित होने की चर्चा करेंगे।

श्री बलराम जी का विवाह :

श्री बलराम जी का विवाह आनर्त नामक राज्य (आधुनिक गुजरात के कच्छ प्रदेश में स्थित) के नरेश महाराज रैवत के वंश में जात महाराज ककुभी की पुत्री ''रेवती'' से हुआ। (आनर्त राज्य के विषय में आगे बतलाया जा रहा है।)

"रेवती जी" श्री बलराम जी से बहुत ही प्रेम करती थीं। अतः दोनों का विवाह बड़े उत्तम ढंग से सम्पन्न हो गया। बलराम जी एक सीधे-सादे शान्तिप्रिय नरेश थे। वे

राजनीतिक झंझटों से दूर रहते थे। उन्होंने अपना यही एक विवाह "रेवती" के साथ किया। वे वही कार्य करते थे जो भगवान् कृष्ण उनको सौंप देते थे।

आनर्त देश :

आनर्त राज्य आधुनिक गुजरात के कच्छ प्रदेश के उत्तर में स्थित था। इस राज्य की स्थापना त्रेतायुग में महाराज शर्याति के पुत्र ने की थी जैसा कि स्कन्ध चार के अध्याय तीन में "द्वारका का निर्माण" के शीर्षक के नीचे बतलाया जा चुका है।

रुक्मिणी का स्वयंवर :

श्री बलराम जी के विवाह के पश्चात् अब हम अपने कथनानुसार श्री रुक्मिणी जी के स्वयंवर और उनके साथ भगवान कृष्ण के विवाह की चर्चा करेंगे, जिसका परिणाम यादव साम्राज्य की शक्ति का संवर्धन हुआ।

उस युग में विदर्भ देश एक बड़ा भारी देश था। उसमें महाराज भीष्मक का ही कुण्डिनपुर नामक राज्य सबसे बड़ा राज्य था। महाराज भीष्मक अपनी पुत्री का विवाह भगवान् कृष्ण के साथ ही करना चाहते थे, किन्तु पुत्र रुक्मी अपनी बहन का विवाह चेदि नरेश शिशुपाल से करना चाहता था, जो उसी के समान ही तामस स्वभाव वाला था।

रुक्मिणी जी भी अपना विवाह भगवान् कृष्ण के ही सांथ करना चाहती थीं और एतदर्थ उन्होंने उनसे पत्राचार भी करना प्रारम्भ कर दिया था। भगवान् कृष्ण ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् स्वयंवरोत्सव के अवसर पर प्रकट होकर रुक्मिणी को हर लाने का निश्चय किया।

रुक्मिणी-हरण :

भगवान् कृष्ण की यह योजना थी कि मैं कुण्डिनपुर पहुँचकर रुक्मिणी को उठाकर अपने रथ पर बैठा लूँगा और वहाँ से पलायन करने लगूँगा एवं जो नरेश मुझसे युद्ध करने के लिए आयेंगे, उन्हें मैं पराजित कर दूँगा। हुआ भी ऐसा ही। भगवान कृष्ण अपने कुछ श्रेष्ठ सैनिकों के साथ स्वयंवर सभा में सम्मिलित होने के लिए पधारे। रुक्मिणी जी इस ताक में थीं कि जैसे ही भगवान् कृष्ण रथ में बैठे हुए कुण्डिनपुर में पहुँचें, वैसे ही मैं उनके रथ पर आरूढ़ हो जाऊँ और कृष्ण भगवान् मेरा हरण करने में सफल हो सकें। अन्त में हुआ यही। जब भगवान् कृष्ण रुक्मिणी को अपने रथ में बैठाकर कुण्डिनपुर से पलायन करने लगे तब शिशुपाल तथा उसके साथी जरासन्ध और शाल्व प्रभृति नरेश उनसे युद्ध करने के लिए दौड़े। स्वयं रुक्मिणी का भाई रुक्मी भी भगवान् कृष्ण से लड़ने वालों में सम्मिलित था क्योंकि वह अपनी बहन का विवाह शिशुपाल से ही करना चाहता था। अन्त में भगवान् कृष्ण अपने भाई बलराम जी की सहायता से शिशुपाल और जरासन्ध प्रभृति बलिष्ट नरेशों को पराजित करके रुक्मिणी को हर लेने में सफल हुए। रुक्मिणी का भाई रुक्मी भगवान् कृष्ण से पराजित होकर इतना लज्जित हुआ कि उसने उस दिन से अपने पिता भीष्मक की राजधानी में प्रवेश ही नहीं किया और राजधानी से बाहर "भोजकट" नामक एक नया नगर बसाकर उसी में रहने लगा।

रुक्मिणी के हरण का परिणाम :

कंस के वध और तत्पश्चात् अपने द्वारका साम्राज्य की स्थापना के परिणामस्वरूप भारत के नरेशों में भगवान् कृष्ण एक बलिष्ट नरेश के रूप में प्रतिष्ठित तो हो ही गये थे। किन्तु जब उन्होंने रुक्मिणी के हरण के प्रसंग में जरासन्ध, शाल्व एवं शिशुपाल आदि प्रसिद्ध योद्धा नरेशों को कुण्डिनपुर में पराजित कर दिया तो उनकी चर्चा भारत में घर-घर में होने लगी। कुण्डिनपुर के नरेश महाराज भीष्मक विदर्भ देश के बलिष्टतम नरेश थे। अतः उनकी पुत्री रुक्मिणी का भगवान् कृष्ण से विवाह हो जाने पर भगवान् कृष्ण की गिनती भारत के बड़े नरेशों में बड़े सम्मान के साथ की जाने लगी।

रुक्मिणी से विवाह के पश्चात् :

भगवान् कृष्ण के साथ श्री रुक्मिणी जी के विवाह के थोड़े ही काल पश्चात् एक बड़ी उल्लेखनीय बात हुई जो निम्नांकित है–

उस युग में क्षीर सागर के तट पर नवोदित यादवों के राज्यों के दक्षिण में कुछ दैत्य-दानव जाति के नरेशों के भी राज्य पहले से विद्यमान थे। ये दैत्य-दानव नरेश यादव राज्यों के प्रभाव से बहुत डरते थे, क्योंकि इनके राज्यों की प्रजा यादवों के शासन की बड़ी प्रशंसा करती थी। दैत्य-दानव नरेश डरते थे कि कहीं ऐसा न हो कि यादव हमारे राज्यों को अपने राज्यों में मिला लें। अतः वे यादवों से एवं भगवान् कृष्ण से द्वेष करने लगे थे। इसी द्वेष के परिणामस्वरूप एक दिन दैत्यों के शम्बरासुर नामक एक नरेश ने धाई का वेश बनाकर रुक्मिणी के प्रसूतिका-गृह में प्रवेश किया और चोरी से उनके नवजात पुत्र "प्रद्युम्न" को हर ले गया तथा उसे क्षीर सागर में फेंक दिया। दैवात् शम्बरासुर की ही दासी की एक छोटी-सी पुत्री माया ने शम्बरासुर द्वारा शिशु प्रद्युम्न को क्षीर सागर में फेंका जाता हुआ देख लिया। जब शम्बरासुर वहाँ से चला गया तो माया ने जल पर तैरते हुए शिशु "प्रद्युम्न" को उसके रूप पर मोहित होकर उठा लिया और अपने घर ले गयी। माया की माता भी प्रद्युम्न के रूप पर बहुत मोहित हो गयी और उसने उस शिशु को अपनी बहन का पुत्र बतलाते हुए उसका शम्बरासुर के महल में ही जहाँ वह दासी का काम कर रही थी, पालन-पोषण करना प्रारम्भ कर दिया।

जब प्रद्युम्न सयाने हुए तब उन्हें समस्त कथा ज्ञात हुई कि कैसे शम्बरासुर एक धाई का वेश बनाकर उन्हें उनकी माता रुक्मिणी के प्रसूतिका-गृह से चुरा लाया था और उन्हें समुद्र में फेंक दिया था।

अपने जन्म की कथा जानकर प्रद्युम्न ने शम्बरासुर का वध कर दिया और माया के साथ द्वारकापुरी पहुँचे, जहाँ श्री कृष्ण और रुक्मिणी ने अत्यन्त हर्ष के साथ उनका स्वागत किया तथा प्रद्युम्न के साथ ही माया का विवाह कर दिया।

कृष्ण भगवान् के साथ जाम्बवती एवं सत्यभामा के विवाह :

रुक्मिणी के साथ भगवान् कृष्ण के विवाह के पश्चात् उनके अन्य विवाहों में से दो महत्त्वपूर्ण विवाह अर्थात् जाम्बवती एवं सत्यभामा के साथ विवाह स्यमन्तक नामक एक

(47)
मणि पर उठे विवाद के प्रसंग में हुए। हम नीचे स्यमन्तक मणि की कथा लिखते हुए यह बतलायेंगे कि कैसे इस मणि पर विवाद के प्रसंग में भगवान् कृष्ण के साथ जाम्बवती एवं सत्यभामा के विवाह हुए।

स्यमन्तक मणि की कथा :

द्वारका साम्राज्य के राज्य-संघ में से एक राज्य के नरेश का नाम सत्राजित था। उनके पास एक मणि थी, जिसका मूल्य एक बड़े राज्य के बराबर था। उस मणि को सत्राजित बराबर पहना करते थे। भगवान् कृष्ण चाहते थे कि यह मणि द्वारका साम्राज्य के राजकोष में रखी जाय और उन्होंने सत्राजित से एतदर्थ वह मणि माँगी भी थी, किन्तु उसने मणि दी नहीं।

एक दिन सत्राजित का भाई प्रसेन वही मणि धारण करके वन में आखेट के लिये गया। वहाँ एक सिंह ने उसे मार डाला। दैवात् ऋक्ष नामक आदिवासी जाति के नरेश जाम्बवान् वहाँ पहुँच गये और उन्होंने प्रसेन के गले में लटकती हुई मणि को उतार लिया तथा अपने राजकीय निवास स्थान पर चले गये।

इधर जब प्रसेन वन से घर पर नहीं लौटे तो सत्राजित उन्हें ढूँढ़ने लगा। प्रसेन के न मिलने पर सत्राजित कहने लगा कि "अवश्य ही श्रीकृष्ण ने प्रसेन को मारकर मणि ले ली होगी, क्योंकि वे इस मणि को बहुत चाहते थे और उन्होंने इसे मुझसे माँगा भी था, किन्तु मैंने उसे दिया नहीं।

भगवान् कृष्ण के विरुद्ध यह अपवाद द्वारका नगर में फैल गया, अतः इसके परिमार्जन के लिए भगवान् अपने कुछ साथियों के साथ वन में प्रसेन को ढूँढ़ने के लिये गये। मणि का पता लगाने के प्रसंग में वे घूमते-घामते ऋक्षराज जाम्बवान् के राजकीय निवास स्थान पर पहुँचे। जब कृष्ण भगवान् को ज्ञात हो गया कि मणि जाम्बवान् ही के पास है तो उन्होंने तदर्थ उससे द्वन्द्व युद्ध किया।

युद्ध में पराजित होकर ऋक्षराज जाम्बवान् ने स्यमन्तक मणि अपनी पुत्री जाम्बवती को दे दी और फिर उसे भगवान् कृष्ण को पत्नी के रूप में समर्पित कर दिया तथा उनका सामन्त नरेश भी बन गया।

भगवान् कृष्ण ने जाम्बवती के साथ द्वारका में पहुँचकर सबको मणि के विषय में बतला दिया और उसे सत्राजित को सौंप दिया।

भगवान् कृष्ण के साथ सत्यभामा का विवाह :

सत्राजित इस बात से बहुत लज्जित था कि उसने भगवान् कृष्ण जैसे एक महापुरुष पर लांछन लगाया था। अपनी झेंप को दूर करने के लिए उसने अपनी अत्यन्त सुन्दरी पुत्री सत्यभामा को वह मणि देकर उसका विवाह भगवान् कृष्णा के साथ कर दिया, किन्तु भगवान् कृष्ण ने वह मणि ली नहीं, वरन् उसे सत्राजित को ही लौटा दिया।

सत्राजित अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह यादव राज्य-संघ के एक नरेश श्री शतधन्वा से करने वाले थे, किन्तु जब उन्होंने उसका विवाह भगवान् कृष्ण के साथ कर दिया तो शतधन्वा बहुत दुःखी हुआ।

इस घटना के कुछ ही दिनों के पश्चात् भगवान् कृष्ण और बलराम को हस्तिनापुर जाना पड़ा। द्वारका में उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर शतधन्वा के मित्र श्री अक्रूर जी एवं कृतवर्मा ने उसे बुलाकर समझाया, ''तुम्हारे साथ या हममें से किसी के साथ सत्राजित ने सत्यभामा का विवाह न करके जो श्रीकृष्ण के साथ कर दिया है, इससे हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ है। अतः तुम्हें चाहिए कि तुम सत्राजित को मार करके स्यमन्तक मणि उससे छीन लो।''

तद्नुसार शतधन्वा ने एक दिन रात में बड़े निर्दयतापूर्वक सत्राजित को मारकर स्यमन्तक मणि उससे छीन ली। हस्तिनापुर से लौटने पर जब भगवान् कृष्ण को ये सारी बातें ज्ञात हुई तो उन्होंने शतधन्वा को मार डालने का उपक्रम रचा। इस पर शतधन्वा द्वारका से भाग खड़ा हुआ। किन्तु भागने से पूर्व उसने वह मणि चुपके से श्री अक्रूर जी के पास रख दी। अब कृष्ण और बलराम ने शतधन्वा का पीछा करना प्रारम्भ किया। कई दिनों के पश्चात् शतधन्वा श्रीकृष्ण और बलराम को मिथिला नगरी में मिला और भगवान् कृष्ण ने अपने चक्र सुदर्शन से उसका सिर काट दिया। जब भगवान् कृष्ण ने शतधन्वा के शरीर के सभी वस्त्रों को भली–भाँति टटोला, किन्तु उन्हें मणि नहीं मिली, तो उन्होंने बलराम जी को वैसा ही बतला दिया, परन्तु बलराम जी ने श्रीकृष्ण जी की बातों पर विश्वास नहीं किया और उनसे कहा, ''तुम द्वारका लौट जाओ। मणि का पता पश्चात् लगाया जायेगा, मैं अपने पुराने मिथिला नरेश के साथ कुछ दिन यहीं ठहरुँगा।''

इधर स्यमन्तक मणि को लेकर श्री अक्रूर जी काशी चले गये। द्वारका पहुँचने पर श्रीकृष्ण भगवान् को ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्यमन्तक मणि मेरे चाचा श्री अक्रूर जी के ही पास है, अतः उन्होंने श्री अक्रूर जी को काशी से बुलवा भेजा और एक दिन बड़े विनीत भाव से उनसे कहा, ''चाचा जी! यह स्यमन्तक मणि यदि आपके पास है, तो आप रखिये, किन्तु उसे द्वारका के लोगों को दिखला दीजिए, क्योंकि द्वारका के बहुत से लोग, वरन् मेरे भइया बलराम जी तक भी मुझी पर मणि के चुरा लेने का सन्देह कर रहे हैं। तब अक्रूर जी ने वह मणि सब लोगों को दिखला दी, जिससे भगवान् कृष्ण पर लगा हुआ अपयश दूर हो गया।

इस प्रकार स्यमन्तक मणि सम्बन्धी विवाह के प्रसंग में भगवान् कृष्ण के दो विवाह हुए। पहला ''जाम्बवती'' के साथ और दूसरा ''सत्यभामा'' के साथ।

जाम्बवती का विवाह इसलिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि उसी के प्रसंग में पश्चिम भारत की ऋक्ष आदि आदिम जातियों के नरेशों में सर्वप्रधान महाराज जाम्बवान् यादव साम्राज्य के एक सामन्त नरेश बन गये।

सत्यभामा के साथ भगवान् कृष्ण के विवाह का इसलिए भी बड़ा महत्त्व है कि राजकुमारी सत्यभामा तत्कालीन सभी यादव–राज्य संघ की राजकुमारियों में सबसे अधिक सुन्दरी थीं। भगवान् कृष्ण जब कभी यात्रा पर जाते थे, तो सत्यभामा जी ही उनके साथ जाती थीं।

(49)

स्यमन्तक मणि की कथा का महत्व :

स्यमन्तक मणि की कथा कई दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण है, प्रथम तो यह कि इस मणि की कथा प्रसंग में ही भगवान् कृष्ण के दो महत्वपूर्ण विवाह हुए प्रथम जाम्बवती से एवं द्वितीय सत्यभामा से। ये दोनों विवाह क्यों महत्त्वपूर्ण थे, गह बात हमने ऊपर बतला दी है।

दूसरी बात जिस कारण स्यमन्तक मणि की कथा महत्त्वपूर्ण है, वह यह है कि पौराणिकों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति भाद्रपद के शुक्लपक्ष की चतुर्थी का चाँद देख ले, तो उसे अवश्य ही कोई बहुत बड़ा अपयश लगता है और यदि किसी को कोई अपयश लगा हो तो स्यमन्तक मणि की कथा का श्रवण करने से उसका वह अपयश दूर हो जाता है।

अध्याय तीन तक हमने भगवान् कृष्ण के तीन विवाहों की चर्चा की है, जो हुए कुण्डिनपुर के नरेश महाराज भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के साथ, जाम्बवान की पुत्री जाम्बवती के साथ एवं सत्राजित की पुत्री सत्यभामा के साथ।

यतः कुण्डिनपुर का राज्य भारतवर्ष के एक बलिष्ट राज्यों में था, अतः रुक्मिणी के साथ विवाह से भगवान् कृष्ण के द्वारका साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गयी।

ऐसे ही जाम्बवती के साथ विवाह का फल यह हुआ कि क्षीर सागर के तट पर स्थित समस्त आदिवासियों के राज्यों पर द्वारका साम्राज्य का पूर्ण वर्चस्व छा गया और वे बिना लड़े ही भगवान् कृष्ण के सामन्त नरेश बन गये।

अब हम आगे भगवान् कृष्ण के पाँच और विवाहों की चर्चा करेंगे, जिनके परिणामस्वरूप द्वारका साम्राज्य बहुत ही बलिष्ट हो गया। ये हैं—राजकुमारी कालिन्दी, राजकुमारी मित्रविन्दा, राजकुमारी सत्या, राजकुमारी भद्रा और राजकुमारी लक्ष्मणा के साथ विवाह।

इन विवाहों की चर्चा हमें द्रौपदी स्वयंवर के पश्चात् ही करनी चाहिए थी, क्योंकि द्रौपदी स्वयंवर के पश्चात् ही भगवान् कृष्ण और पाण्डवों में घनिष्ठता बढ़ने लगी, भगवान् कृष्ण का वर्चस्व भारत के नरेशों पर छाने लगा। ये पाँचों विवाह इसी वर्चस्व के परिणामस्वरूप हुए किन्तु विवाहों के क्रम विच्छिन्न न होने देने के कारण ही हम इन विवाहों की चर्चा यहीं कर देते हैं।

राजकुमारी कालिन्दी का भगवान् कृष्ण से विवाह :

भगवान् कृष्ण का चौथा विवाह सूर्यवंश की एक राजकुमारी कालिन्दी के साथ हुआ। कालिन्दी के पिता एक छोटे से सूर्यवंशी नरेश थे, जिनका छोटा सा राज्य इन्द्रप्रस्थ के समीप ही यमुना जी के तट पर स्थित था।

कुमारी कालिन्दी भगवान् कृष्ण के गुणों को सुनकर इतनी प्रभावित हो गयीं थीं कि उसने भगवान् कृष्ण को ही वर के रूप में प्राप्त करने के लिए यमुना जी के तट पर

तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी। जैसा कि आगे स्कन्ध छः में बतलाया गया है जब द्रौपदी स्वयंवर के पश्चात् महाराज युधिष्ठिरादि पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में रहने लगे, तब उनके साथ घनिष्ठता बढ़ जाने के कारण भगवान् कृष्ण पाण्डवों से मिलने बार-बार इन्द्रप्रस्थ आया-जाया करने लगे। ऐसे ही एक बार जब भगवान् कृष्ण द्वारका से इन्द्रप्रस्थ पधारे तो वहाँ उन्होंने कालिन्दी की तपस्या का समाचार सुना। भगवान् कृष्ण कालिन्दी की तपस्या से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने तुरन्त उसे अपने रथ पर बैठा लिया तथा इन्द्रप्रस्थ नगर में लाये, वहाँ महाराज युधिष्ठिर की सम्मति से उसे द्वारकापुरी में ले गये एवं उसके साथ अपना विवाह कर लिया।

कालिन्दी के पश्चात् कृष्ण के चार और विवाह हुए जिसका वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

अवन्ती देश की राजकुमारी मित्रविन्दा के साथ भगवान् कृष्ण का विवाह :

भगवान् कृष्ण के युग में अवन्ती राज्य भारतवर्ष के बड़े-बड़े राज्यों में गिना जाता था। उसके नरेश महाराज जयसेन भगवान् कृष्ण के फूफा भी थे। वे अपनी पुत्री मित्रविन्दा का विवाह भगवान् कृष्ण से ही करना चाहते थे, किन्तु मित्रविन्दा के भाई विन्द और अनुविन्द अपनी बहन का विवाह कुरु सम्राट धृतराष्ट्र के पुत्र महाराज दुर्योधन से करना चाहते थे। अतः स्वयंवर सभा का आयोजन हुआ जिसमें दुर्योधन अपने साथी नरेशों के साथ अपनी पूरी शक्ति के साथ उपस्थित हुआ। किन्तु जब भगवान् कृष्ण स्वयंवर सभा में पधारे तो उनके तेज और बल को देखकर दुर्योधन इतना डर गया कि उसे कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ। मित्रविन्दा ने भगवान् कृष्ण के गले में जयमाल डाल दी और बिना किसी प्रकार के युद्ध के मित्रविन्दा का विवाह भगवान् कृष्ण के साथ हो गया।

मित्रविन्दा के स्वयंवर के अवसर पर लोग बड़ा भारी युद्ध होने का अनुमान लगा रहे थे, किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ और भगवान् कृष्ण का वर्चस्व महाराज दुर्योधन और उसके साथी सभी नरेशों पर पूर्णतया छा गया।

कोसल देश की राजकुमारी सत्या का स्वयंवर और अन्त में उसका भगवान् कृष्ण के साथ विवाह :

कोसल देश कृष्णकालीन बड़े-बड़े राज्यों में अग्रगण्य समझा जाता था। कोसल नरेश महाराज नग्नजित के पास सात बड़े ही दुर्दान्त बैल थे, जिनको नाथ करके किसी शकट आदि में जोत देना एक असंभव-सा कार्य माना जाता था। कोशल नरेश ने अपनी पुत्री के विवाह के लिए इन सातों बैलों को एक साथ नाथ देने और उन्हें शकट आदि में जोत देने की ही सन्धा (शर्त) रखी थी।

कुमारी सत्या के शील, स्वभाव को जानकर और फिर महाराज कोसल नरेश की महिमा को दृष्टिगत करके भारतवर्ष के बड़े-बड़े नरेशों ने सत्या से विवाह के लिए कोसल नरेश के उपर्युक्त दुर्दान्त बैलों को नाथना चाहा, किन्तु सभी को इसमें असफलता

(51)

ही मिली। अन्त में भगवान् कृष्ण ने हँसते–हँसते कोसल के इन दुर्दान्त बैलों को नाथकर उन्हें एक शकट में जोत दिया। इस पर भगवान् कृष्ण की ख्याति भारतवर्ष के सभी नरेशों में फैल गयी और कोसल नरेश ने बड़े प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुत्री को भगवान् कृष्ण से ब्याह दिया।

इस प्रसंग के पश्चात् कई दुष्ट नरेशों ने सत्या को अपने साथ ले जाते हुए भगवान् कृष्ण पर आक्रमण भी कर दिया, किन्तु सबको उन्होंने बहुत बुरे प्रकार से पराजित कर दिया।

कैकय देश की राजकुमारी भद्रा से विवाह :

कैकय देश के नरेश महाराज धृष्टकेतु के दस पुत्र थे, उन दसों पुत्रों में से सतर्दन आदि पाँच पुत्र एवं भद्रा नामक कन्या भगवान् कृष्ण की बुआ श्रुतकीर्ति की सन्तानें थीं। श्रुतकीर्ति का विवाह महाराज धृष्टकेतु के साथ हुआ था।

यद्यपि भद्रा से सम्राट धृष्टराष्ट्र के पुत्र महाराज दुर्योधन अपना विवाह करना चाहते थे किन्तु सन्तर्नादि ने अपनी बहन का विवाह भगवान् कृष्ण के साथ ही किया और महाराज दुर्योधन को इस प्रसंग में मुँह की खानी पड़ी।

राजकुमारी लक्ष्मणा के साथ विवाह :

भद्र नरेश (बृहत्सेन) की पुत्री लक्ष्मणा बड़ी सुन्दर थी। अतः उसके स्वयम्वरोत्सव में बहुत से नरेश पधारे थे। किन्तु स्वयंवर सभा में कुमारी लक्ष्मणा ने भगवान् कृष्ण का ही वरण किया। लक्ष्मणा के विवाह के प्रसंग में आयोजित स्वयंवर सभा में उपस्थित नरेश भगवान् कृष्ण के तेज से इतने प्रभावित हुए कि कोई भी कुछ बोला नहीं और लक्ष्मणा का विवाह भगवान् कृष्ण के साथ हो गया। भद्र नरेश महाराज शल्य जो महाभारत महायुद्ध में कौरवों की ओर से लड़ने वाले नरेशों में प्रधान थे, वे राजकुमारी लक्ष्मणा के भाई थे।

कृष्णायन का दूसरा खण्ड

अब हम भगवान् कृष्ण के स्वयंवर आदि के द्वारा विवाहों के वर्णन के पश्चात् कृष्णायन का दूसरा खण्ड प्रारम्भ कर रहे हैं, जो अति महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि "उपोद्‌घात" में बतलाया जा चुका है। यह दूसरा खण्ड इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसको पढ़कर ही पाठक यह जान सकेंगे कि भगवान् कृष्ण ने जो महाभारत संग्राम करा दिया, उसका पूर्वापर सन्दर्भ क्या था इस खण्ड में स्कन्ध छः से स्कन्ध बारह तक कुरु सम्राट महाराज शान्तनु से प्रारम्भ करके महाभारत महायुद्ध के अन्त तक की बातों पर प्रकाश डाला गया है, पाठक इसे पढ़कर ही महाभारत महायुद्ध एवं उसके प्रधान घटकों कौरवों एवं पाण्डवों के विषय में पूर्णतया जान सकेंगे।

महाभारत महायुद्ध में पाण्डवों को भगवान् कृष्ण ने ही विजय दिलायी, जिसके परिणामस्वरूप भारतवर्ष का इतिहास ही बदल गया।

स्कन्ध 'छः'

प्राक्कथन :

स्कन्ध एक से पाँच तक हमने भगवान् कृष्ण के जन्म, उनके द्वारा वृन्दावन में व्रजमण्डल की स्थापना, फिर कंस के वध और तदनन्तर द्वारका के यादव साम्राज्य की स्थापना एवं उसके दृढ़ीकरण के प्रसंग में श्रीकृष्ण द्वारा स्वयंवर आदि में भाग लेकर अपने आठ विवाह करने की चर्चा की है।

द्वारका के दृढ़ीकरण के पश्चात भगवान कृष्ण के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हुआ। बात यह थी कि उन दिनों भारतवर्ष पर कुरु राज्य के सम्राटों का शासन था और एक प्रकार से उन्हीं का सारे भारतवर्ष पर वर्चस्व छाया हुआ था। कुरु राज्य के सम्राट का वंश दो भागों में विभक्त हो गया था, जो इतिहास में कौरव और पाण्डव नाम से प्रसिद्ध था। इसमें कौरव बड़े अत्याचारी थे, जबकि पाण्डव सत्यशील एवं न्यायप्रिय थे।

भगवान कृष्ण ने द्वारका साम्राज्य की स्थापना कर चुकने के पश्चात भारत पर सम्राट के रूप में शासन करने वाले कौरव पाण्डव वंशों में से सत्यशील एवं न्यायप्रिय पाण्डवों के साथ अपनी घनिष्ठता स्थापित की और इन युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डवों की सहायता करते हुए महाराज युधिष्ठिर को भारतवर्ष का सम्राट बना दिया। परिणामतः पाण्डवों के प्रबल विरोधी कौरवों ने एक दुष्ट षड्यन्त्र द्वारा पाण्डवों को तेरह वर्षों के लिए वनवासी का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर दिया। अन्त में कौरवों एवं पाण्डवों के बीच महाभारत नामक महायुद्ध हुआ, जिसमें भगवान कृष्ण ने पाण्डवों की सहायता की और अन्त में उन्हें विजयी बनाकर भारतवर्ष पर धर्म के शासन की स्थापना की।

यतः कौरवों एवं पाण्डवों के विषय में पूर्णतया जाने बिना पाठक भगवान् कृष्ण के आगे के कार्यकलापों के विषय में नही समझ सकते। अतः पहले स्कन्ध छः में संक्षिप्त महाभारत का उल्लेख किया है, जिसका आरम्भ हमने महाराज शान्तनु से किया है। महाराज शान्तनु ईसा के जन्म से तैतीस सौ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होने वाली शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष पर शासन करते थे। महाभारत की कथा हमने पहले द्रौपदी स्वयंवर तक लिखी है, क्योंकि द्रौपदी स्वयंवर के ही अवसर पर भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के बीच घनिष्ठता बढ़नी प्रारम्भ हुई, जिसकी परिणति भारतवर्ष पर पुनः महाभारत उसके पश्चात् धर्म की स्थापना में हुई।

स्कन्ध छः के अन्त में हमने बतलाया है कि द्रौपदी स्वयंवर के पश्चात् किस प्रकार भगवान् कृष्ण की सहायता से जेष्ठ पाण्डव महाराज युधिष्ठिर कुरु राज्य के उत्तरी भाग के शासक बने और इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर उस पर शासन करने लगे।

अब पाण्डवों का अपना दृढ़ अस्तित्व बन गया, अतः भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के बीच घनिष्ठता बढ़ने लगी।

अध्याय एक 'क'

संक्षिप्त महाभारत

महाराज शान्तनु :

बहुत कम लोग जानते होंगे कि जैसे आजकल भारतवर्ष में विक्रमी संवत्, शक सम्वत् एवं ईसवी संवत् प्रवर्तमान है, उसी प्रकार कलिसंवत् नामक एक संवत् भी प्रवर्तमान है और आज सन् 1999 ईसवीं में कलिसंवत् 5099 प्रवर्तमान है। अर्थात् कलिसंवत ईसा के जन्म से 3100 (इक्तीस सौ) वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हुआ है। मोटे प्रकार से ऐसा माना जाता है कि भगवान् कृष्ण के स्वधाम गमन (स्वगमन) के साथ ही द्वापरयुग का अन्त हो गया और कलियुग का आरम्भ हुआ। इसके प्रारम्भ होने की तिथि ईसा के जन्म से 3100 वर्ष पूर्व मानी जाती है। ईसा के जन्म से 3300 (तैतीस सौ) वर्ष पूर्व से जो शताब्दी आरम्भ हुई, उसी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष के सम्राट के राज सिंहासन पर महाराज शान्तनु नामक सम्राट विराजमान थे।

महाराज शान्तनु के युग में भारतवर्ष में सहस्रों छोटे-बड़े नरेश राज्य करते थे और सभी नरेश एक प्रकार से स्वाधीन थे, किन्तु सबके ऊपर एक सम्राट हुआ करता था। सम्राट इस बात का बराबर ध्यान रखता था कि भारतवर्ष के किसी नरेश के राज्य में कोई अन्याय की बात न घटित होनी पाये। जब कभी किसी राज्य में कोई अधार्मिक या अन्याय की बात घटित होती तो सम्राट तुरन्त हस्तक्षेप करता था। सम्राट भारत के सभी नरेशों पर अपनी पकड़ बराबर बनाये रखता था। यदि कभी कोई नरेश अपने को सम्राट से अधिक बलिष्ट समझने लगता था, तो सम्राट तुरन्त उसे अपने अधिकार में कर लेने का प्रयत्न करता था। एतदर्थ ही सम्राट लोग कुछ ऐसे यज्ञ बराबर किया करते थे, जिसके पहले भारत के सभी नरेशों को उनके लिए दिग्विजय द्वारा अपने वश में कर लेना आवश्यक समझा जाता था।

महाराज शान्तनु ऐसे ही एक सम्राट थे। उनका केन्द्रीय राज्य उस युग में "कुरुराज्य" के नाम से विख्यात था और उनकी तत्कालीन राजधानी का नाम "हस्तिनापुर" था। "कुरुराज्य" साप्त सैन्धव देश के नाम से भी विख्यात था। किन्तु धीरे-धीरे सप्त सैन्धव देश में बहुत से स्वतंत्र नरेश उत्पन्न हो गये और सम्राट शान्तनु के पूर्वज की ओर बढ़ते हुए कुरुदेश में जम गये तथा नया केन्द्रीय राज्य जो कुरु जंगल था वह "कुरुराज्य" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

महाराज शान्तनु एक बड़े धार्मिक एवं सात्विक महापुरुष थे। उनके काल तक भारत वर्ष में सत्य एवं न्याय का शासन प्रवर्तमान रहा। प्रजा पर यद्यपि विभिन्न श्रेणियों के

राजाओं, महाराजाओं का अधिकार था किन्तु ये राजे–महाराजे अपनी प्रजा पर तनिक भी अत्याचार नहीं कर सकते थे। यदि कभी कोई छोटा या बड़ा नरेश प्रजाजनों में से किसी के साथ दुर्व्यवहार करता तो उस काल के ऋषि–मुनि तुरन्त उसे टोकते थे और उसे अपने को तुरन्त सुधारना पड़ता था। उस युग में यद्यपि प्रजाजनों पर राजाओं–महाराजाओं का शासन था, किन्तु वास्तविक शासन ऋषियों–मुनियों का ही था।

महाराज शान्तनु का विवाह :

महाराज शान्तनु एक दिन आखेट के प्रसंग में गंगा जी के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अति सुन्दरी-युवती देखी जिसका नाम भी गंगा ही था।

जब गंगा का महाराज शान्तनु से सम्पर्क हुआ तो उस पर आसक्त हो गये और अन्त में उन्होंने उसे अपनी धर्मपत्नी बनाने की बात उस पर प्रकट कर दी। गंगा एक अद्‌भुत प्रकार की युवती थी। उसने महाराज शान्तनु से हँसते हुए कहा, "भला कौन युवती एक सम्राट के साथ विवाह करना नहीं चाहेगी? किन्तु विवाह के प्रसंग में मेरी एक सन्धा (शर्त) है," मैं आपके महालय (महल) में रहूँगी, किन्तु मेरे गर्भ से आपकी जो सन्तान उत्पन्न होंगी, उसे मैं अपने पिता जी को दे दिया करूँगी और आप मुझे ऐसा करने से रोकेंगे नहीं। यदि आप अपनी किसी सन्तान को मुझे अपने पिता को समर्पित करने से रोकेंगे तो वह सन्तान तो आप की ही हो जायेगी, किन्तु मैं आपके महालय (महल) में से निकलकर अपने पिता के घर चली जाऊँगी।"

देवव्रत का जन्म :

सन्धा के अनुसार गंगा प्रति वर्ष महाराज शान्तनु से अपने उत्पन्न हुए पुत्र को अपने पिता को समर्पित करती रही। किन्तु जब गंगा के गर्भ से महाराज शान्तनु का आठवाँ पुत्र जन्मा तो उन्होंने गंगा को उसे अपने पिता को समर्पित करने से रोक दिया। सन्धा के अनुसार गंगा महाराज शान्तनु के महालय में से निकलकर अपने पिता के घर चली गयी और अपने नवजात शिशु को यह कह कर लेती गयीं कि जब यह पुत्र बड़ा हो जायेगा तो मैं इसे आपके पास भेज दूँगी। तद्‌नुसार ही गंगा का आठवाँ पुत्र महाराज शान्तनु को मिला और उसका नाम उन्होंने देवव्रत रखा।

भीष्म-प्रतिज्ञा :

अब एक और घटना घटित हुई। महाराज शान्तनु ने यमुना के तट पर एक दिन पुनः एक सुन्दरी युवती को देखा। उसका सौन्दर्य बड़ा आकर्षक था, उसकी वाणी बड़ी मधुर थी, उसका शील बड़ा उच्चकोटि का था और साथ ही उसके शरीर से बड़ी मोहक सुगन्ध निकल रही थी। उस युवती का नाम सत्यवती था और वह निषादों के एक छोटे से राजा की पुत्री थी। राजर्षि शान्तनु ने ऐसी युवती पहले कभी नहीं देखी थी। उन्होंने उससे विवाह करना चाहा, किन्तु लज्जावशात् उन्होंने यह बात किसी पर प्रकट नहीं की और

उस युवती को प्राप्त करने की चिन्ता में दुर्बल होने लगे। जब देवव्रत को यह बात ज्ञात हुई, उन्होंने स्वयं सत्यवती के पिता निषादराज से अपनी पुत्री अपने पिता (महाराज शान्तनु) के लिए दे देने को कहा। निषादराज ने कहा-''मैं अपनी पुत्री आपके पिता को देने के लिए उद्यत हूँ, किन्तु मैं चाहता हूँ कि मेरी पुत्री से जात पुत्र ही महाराज शान्तनु का उत्तराधिकारी बने। '' देवव्रत ने निषादराज की यह सन्धा स्वीकार कर ली। तब निषादराज ने कहा, ''मैं यह तो मान लेता हूँ कि जब आप स्वयं मेरे नप्ता को अपने पिता का उत्तराधिकारी बनाने के लिए उद्यत हैं, तो ऐसा होगा ही, किन्तु मुझे भय है कि आपका जो पुत्र होगा, वह मेरे नप्ता को राजसिंहासन से च्युत कर देगा। इस पर देवव्रत ने उत्तर दिया, ''मुझे अपने पिता को सुखी बनाना है, अतः मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन विवाह ही नहीं करूँगा और न तो राजसिंहासन पर बैठूँगा ही, जिससे तुम्हे यह भय न रह जाये कि मेरा पुत्र तुम्हारे नप्ता को राजपद से च्युत करेगा। ''अब निषादराज की उस पुत्री से महाराज शान्तनु का विवाह हो गया और 'देवव्रत' अपने प्रतिज्ञानुसार आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे। देवव्रत को उनकी इस अति कठोर या भीषण प्रतिज्ञा के कारण 'भीष्म' कहा जाने लगा और उनकी प्रतिज्ञा 'भीष्म प्रतिज्ञा' के नाम से संसार में विख्यात हुई। ''सत्यवती'' वही युवती थी, जिसके साथ पराशर मुनि ने सहवास किया था और उससे ''व्यास'' मुनि का जन्म हुआ था, वह कथा स्वल्प में इस प्रकार है-

एक बार पराशर ऋषि गंगा नदी के तट पर खड़े होकर उस पार जाने के लिए नौका की प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय नौका का चालक निषाद कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पुत्री 'सत्यवती' ने ऋषि पराशर की परिश्रान्ति को देखकर कहा-''महाराज मेरे पिता जी तो घर पर नहीं हैं, यदि आप चाहे तो मैं ही नौका को खेकर आपको पार पहुँचा दूँ। ऋषि पराशर सत्यवती द्वारा नौका खेवाकर उस पार जाने के लिए उद्यत हो गये। सत्यवती जब नौका चला रही थी, तो अपने युवा शरीर के संचालन से वह ऐसी आकर्षक लग रही थी कि ऋषि पराशर उस पर आसक्त हो गये और गंगा नदी के बीच में पड़े हुए एक रेते या द्वीप पर उन्होंने उसके साथ उसकी इच्छा से सहवास किया। बतलाया जाता है कि उस रेते या द्वीप पर एक बदरी (बेर) का वृक्ष भी खड़ा था, जिसके नीचे सत्यवती के साथ ऋषि पराशर ने सहवास किया। पुराणों के अनुसार, ''सत्यवती के शरीर से मछली जैसी दुर्गन्धि निकल रही थी किन्तु पराशर मुनि ने अपने योग बल द्वारा दुर्गन्धि को सुगन्धि में परिणत कर दिया, जिससे सत्यवती के शरीर से आजन्म सुगन्धि निकलती रही। जब पराशर मुनि अपने आश्रम पर पहुँच गये तो उन्होंने सत्यवती के पिता को बुलाकर उससे क्षमा याचना की और सत्यवती से जात पुत्र को अपने आश्रम में पालने का निश्चय किया। पराशर मुनि ने पश्चात् उस निषाद की पुत्री को यमुना नदी के तट पर रहने वाले एक निषादराज को समर्पित कर दिया और एक सुयोग्य वर से उसका विवाह कर देने का निर्देश किया। अब पाठक समझ गये होंगे कि कैसे राजर्षि शान्तनु को

सत्यवती यमुना के तट पर मिली थी और कैसे ऋषि पराशर की योग शक्ति के प्रभाव से उसके शरीर से सुगन्ध निकल रही थी।

सत्यवती का यही पुत्र आगे चलकर "व्यास" मुनि के नाम से विख्यात हुआ, इसी से "व्यास" मुनि का पूरा नाम" श्रीकृष्ण द्वैपायन वादरायण व्यास" प्रसिद्ध हुआ। "व्यास को श्री कृष्ण इसलिए कहते थे कि उनके शरीर का रंग काला था। उन्हें द्वैपायन एवं बादरायण इसलिए कहते थे कि उनका गर्भाधान एक रेते या द्वीप पर एक "बदरी" या बेर के नीचे हुआ था। "द्वीप" के कारण उन्हें "द्वैपायन" और बदरी या बेर के नीचे जन्म लेने के कारण उन्हें बादरायण कहा जाने लगा।

महाराज शान्तनु का सत्यवती से विवाह और पुत्रोत्पत्ति :

ऊपर बतलाया जा चुका है कि देवव्रत या भीष्म के प्रयत्न से सत्यवती का विवाह शान्तनु से हो गया। विवाह के पश्चात् सत्यवती से महाराज शान्तनु के दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे, चित्रांगद और विचित्रवीर्य। दोनों पुत्र बड़े ही वीर थे। यतः महाराज भीष्म अपने प्रतिज्ञानुसार गद्दी पर नहीं बैठ सकते थे। अतः उन्होंने चित्रांगद को राजपद पर अभिषिक्त किया और उसके परामर्शदाता के रूप में कार्य करते रहे।

चित्रांगद का गन्धर्वराज से युद्ध :

उन दिनों महाराज चित्रांगद का एक सामन्त नरेश था जो एक गन्धर्व था और जिसका नाम भी चित्रांगद ही था, उसने महाराज चित्रांगद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और युद्ध में महाराज चित्रांगद वीरगति को प्राप्त हो गये। तुरन्त महाराज भीष्म ने विद्रोह को दबा दिया, किन्तु महाराज चित्रांगद तो दिवंगत हो ही गये थे। अतः भीष्म जी ने विचित्रवीर्य को राजसिंहासन पर बैठा दिया।

विचित्रवीर्य का विवाह और क्षयरोग से उनकी मृत्यु :

विचित्रवीर्य अब तक पूर्ण युवा हो चुके थे, अतः सत्यवती ने भीष्म पितामह को विवाह के लिए प्रेरित किया। उन्हीं दिनों "काशिराज" अपनी तीन पुत्रियों के विवाह के लिए स्वयम्वर का आयोजन कर रहे थे। इस स्वयंवरोत्सव में भीष्म पितामह भी विचित्रवीर्य के लिए एक सुन्दरी युवती प्राप्त करने के लिए पधारे। जब सैकड़ों नरेशों ने भीष्म पितामह को स्वयंवरोत्सव में उपस्थित देखा, तो वे उनका परिहास करने लगे और कहने लगे कि, "भीष्म आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा कर चुका था किन्तु वह अब वृद्धावस्था में पत्नी प्राप्त करने की इच्छा से स्वयंवरोत्सव में आया है। भीष्म जी को राजाओं के इस परिहास से रोष आ गया उन्होंने परिहास करने वाले सभी नरेशों को युद्ध में पराजित करके काशिराज की तीनों कन्याओं को हर लिया और उनके साथ अपनी राजधानी हस्तिनापुर को लौट आये। इन तीनों कन्याओं के नाम थे, अम्बा, अम्बिका, और अम्बालिका। इनमें से अम्बा ने भीष्म से कहा, 'मैंने महाराज "शाल्व"

(57) को पतिरूप में वरण कर रखा है और स्वयंवर में मैं उन्हीं के गले में जयमाल डालती, किन्तु आपने मेरी बहनों के साथ ही मेरा भी अपहरण कर लिया, अतः धर्मानुसार आपको मुझे अपने मनोज्ञपति ''शाल्व'' के पास भेज देना चाहिए।'' महाराज भीष्म ने ऐसा ही किया और काशिराज की शेष दो पुत्रियों अम्बिका और अम्बालिका का विवाह विचित्रवीर्य के साथ कर दिया।

विचित्रवीर्य अपनी दोनों पत्नियों अम्बिका और अम्बालिका के साथ भोग विलास में इतने लीन रहने लगे कि वे क्षयरोग से ग्रस्त हो गये और कुछ ही दिनों में बिना अपनी पत्नियों से कोई पुत्र उत्पन्न किये ही चल बसे। विचित्रवीर्य के दिवंगत हो जाने से भीष्म पितामह, सत्यवती, अम्बिका तथा अम्बालिका सभी बहुत दुःखी हुए, किन्तु वे कर ही क्या सकते थे?

(हमने यहाँ काशिराज की पुत्री अम्बा के विषय में कुछ नहीं बतलाया कि उसका क्या हुआ? उसके विषय में हमने जानने योग्य बातें स्कन्ध ग्यारह के अध्याय चार के अन्त में ''शिखण्डी'' शीर्षक के नीचे बतलायी हैं, पाठक उन्हें भी पढ़ लें)

विचित्रवीर्य की पत्नियों से नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति :

''नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति'' की बात को पाठक भली-भाँति समझ लें। प्राचीन काल में यह नियत था कि जब किसी स्त्री अथवा एक क्षत्राणी का पति बिना पुत्र उत्पन्न किये ही दिवंगत हो जाता था, तो उसे अधिकार था कि वह किसी श्रेष्ठ महापुरुष के साथ संभोग करके उससे अपने लिए पुत्र उत्पन्न करवा सकती थी और ऐसे पुत्र को नियोगज पुत्र कहा जाता था। नियोगज पुत्र को औरस पुत्र के समान ही अधिकार प्राप्त होते थे, अर्थात् नियोगज पुत्र अपनी माता के दिवंगत पति का धर्मतः उत्तराधिकारी होता था एवं उसका श्राद्ध कर्म भी कर सकता था।

जब विचित्रवीर्य का देहान्त हो गया और कुरुदेश का राज सिंहासन सूना होने लगा तो विचित्रवीर्य की माता सत्यवती ने भीष्म जी को आदेश दिया कि, अब तुम अम्बिका और अम्बालिका से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न कराओ, जिससे कुरुदेश का राजसिंहासन सूना न रह जाय। सत्यवती के परामर्श से उस काल के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष मुनि व्यास जी द्वारा अम्बिका और अम्बालिका के गर्भ से नियोगज पुत्र उत्पन्न कराने की बात निश्चित हुई। मुनि व्यास का पूरा नाम श्री कृष्ण द्वैपायन वादरायण व्यास था, उन्हें वेदव्यास भी इसलिए कहते थे कि उन्होंने श्रुतियों को नियमित प्रकार से चार भागों में विभाजित किया जैसे व्यास वृत्त का विभाजन करता है।

बात यह थी कि व्यास मुनि सत्यवती के पुत्र थे, जबकि अम्बिका और अम्बालिका सत्यवती की पुत्र बधुएँ थीं। व्यास मुनि उस काल के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में से थे, इसी से सत्यवती ने भीष्म जी से कहकर व्यास जी को ही नियोगज पुत्र उत्पन्न करने के लिए आमन्त्रित करवाया। मुनि व्यास वही थे, जिन्हें एक निषाद की पुत्री सत्यवती ने ऋषि

पराशर के साथ संभोग के फलस्वरूप जन्म दिया था। यतः ऋषि पराशर ने सत्यवती के साथ गंगा जी के द्वीप या रेते पर खड़े एक बदरी या बेर के नीचे संभोग द्वारा जन्म दिया था, अतः मुनि व्यास का पूरा नाम श्री कृष्ण द्वैपायन बादरायण व्यास हुआ। उनके नाम के पूर्व कृष्ण इसलिए लगाया जाता है कि वे शरीर से कृष्ण या श्यामल वर्ण के थे।

विचित्रवीर्य के देहावसान से पचीसों वर्ष पूर्व सत्यवती के पिता गंगा जी के तट पर कार्य करने वाले एक निषाद थे। एक दिन ऋषि पराशर गंगा जी के तट पर आये, उनका आश्रम गंगा जी के उस पार था। संध्या का समय था। ऋषि पराशर को अपने आश्रम पर पहुँचने की शीघ्रता थी, किन्तु निषाद के घर पर उपस्थित न रहने के कारण पराशर ऋषि कुछ व्याकुल हो गये। यह देखकर सत्यवती ने कहा, "महाराज पिता जी तो घर पर नहीं है, अतः यदि आप कहें तो मैं ही नौका खेकर आपको उस पार पहुँचा दूँ। ऋषि पराशर तुरन्त सत्यवती के साथ नौका से उस पार जाने के लिए तैयार हो गये। जब हृष्ट-पुष्ट सत्यवती डाँड चलाने लगीं तो उसके यौवन को देखकर ऋषि पराशर विचलित हो गये। जब नौका गंगा जी के बीच में एक द्वीप (रेते) के पास पहुँची, जिस पर एक बदरी या बेर का पेड़ खड़ा था तो वहाँ ऋषि पराशर ने सत्यवती के साथ संभोग की इच्छा प्रकट की। सत्यवती ने प्रसन्नतापूर्वक ऋषि पराशर के साथ संभोग किया और उसके गर्भ रह गया, जिससे आगे चलकर व्यास मुनि का जन्म हुआ।

पुराणों में कहा गया है कि जिस समय पराशर ऋषि ने सत्यवती से संभोग किया था उस समय उसके शरीर से एक मछली जैसी दुर्गन्ध निकल रही थी। किन्तु ऋषि पराशर ने अपने योग बल से उस दुर्गन्ध को सुगन्ध में परिणत कर दिया था।

जब ऋषि पराशर गंगा जी को पार करके अपने आश्रम पर पहुँचे तो उन्होंने सत्यवती के पिता को बुलवाया और उसके साथ अपने संभोग की बात कह दी तथा निषादराज से कहा, "जब तक सत्यवती का पुत्र चलने-फिरने योग्य न हो जाये, तब तक वह मेरे आश्रम में ही रहेंगी।

सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम 'श्री कृष्ण द्वैपायन बादरायण व्यास" रखा गया। शिशु का नाम श्रीकृष्ण इसलिए रखा गया कि वह शरीर से काला या साँवला था उसके द्वैपायन या बादरायण नाम इसलिए रखे गये कि सत्यवती के साथ ऋषि पराशर ने एक द्वीप (रेते) पर एक बदरी या बेर के वृक्ष के नीचे संभोग किया था।

सत्यवती के पिता निषादराज ने यह जानकर कि "मेरी पुत्री पराशर जैसे एक ऋषि की पत्नी हो गयी है, उसे गंगा जी से दूर यमुना जी के तट पर रहने वाले एक निषादराज को समर्पित कर दिया और उससे कह दिया कि मेरी इस पुत्री का विवाह किसी साधारण पुरुष से मत करना।

तदनुसार ही यमुना तट के निषादराज ने महाराज शान्तनु के साथ सत्यवती का विवाह किया और शान्तनु जो सत्यवती के शरीर से निकलने वाली सुगन्ध से उस पर आसक्त हो गये थे, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है उसका कारण ऋषि पराशर का योग बल

ही था। ऋषि पराशर ने सत्यवती के शरीर से निकलने वाली मछली जैसे दुर्गन्ध को सुगन्ध में परिणत कर दिया था।

अब पाठकों को भली-भाँति ज्ञात हो गया होगा कि सत्यवती कैसे मुनि वेदव्यास की माता थी और अम्बिका एवं अम्बालिका उनकी अनुज बधुएँ थी।

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर जी की उत्पत्ति :

मुनि वेद व्यास ने अम्बिका और अम्बालिका के साथ अम्बिका की एक दासी के साथ भी संभोग किया एवं उससे भी एक पुत्र उत्पन्न किया। अम्बिका से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम धृतराष्ट्र, अम्बालिका से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम पाण्डु एवं दासी से उत्पन्न हुए पुत्र का नाम विदुर रखा गया।

अम्बिका के पुत्र धृतराष्ट्र जन्मान्ध और अम्बालिका के पुत्र पाण्डु जन्म से पाण्डु रोगी थे। कहा जाता है कि इन पुत्रों के जन्मान्ध एवं जन्म से पाण्डु रोगी होने के कारण इनकी माताओं के निजी दोष ही थे। महाराज धृतराष्ट्र शारीरिक दृष्टि से बड़े सुन्दर और बलिष्ट थे। पुराणों के अनुसार उनके शरीर में दस सहस्र हाथियों का बल था। महाराज पाण्डु भी बड़े सुन्दर थे एवं धनुर्विद्या में पूर्ण निष्णात हुए।

महाराज पाण्डु का सम्राट बनाया जाना और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु आदि के विवाह

जब तक धृतराष्ट्र और पाण्डु सयाने नहीं हुए, तब तक उनकी ओर से भीष्म ही कुरुदेश के शासन सूत्र का संचालन करते रहे। किन्तु जब दोनों सयाने हो गये तो धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण पाण्डु ही कुरुदेश के सम्राट के सिंहासन पर बैठाये गये।

कुल और योग्यता के कारण महाराज धृतराष्ट्र का विवाह गान्धार नरेश महाराज सुबल की पुत्री गान्धारी से हो गया। गान्धारी एक बड़ी साध्वी राजकुमारी थीं। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरा विवाह एक अन्धे पति से हुआ है, तो उन्होंने भी अपनी आँखों पर एक पट्टी बाँध ली, जिसे उन्होंने आजीवन नहीं उतारा और अपने पति के समान ही जन्मान्ध के समान रहने लगीं।

महाराज पाण्डु का विवाह महाराज कुन्तिभोज की दत्तक पुत्री कुन्ती के साथ हो गया। कुन्ती शौरसेन राज्य के एक सामन्त नरेश शूरसेन की पुत्री एवं भगवान् कृष्ण के पिता श्री वासुदेव जी की बहन थी। महाराज शूरसेन ने अपनी इस कुन्ती नामक पुत्री को अपने फुफेरे निःसन्तान भाई भोज राज्य के नरेश कुन्तिभोज को दत्तक के रूप में दे दिया था। महाराज कुन्तिभोज ने कुन्ती के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन किया और कुन्ती ने स्वयंवर सभा में महाराज पाण्डु का ही वरण किया। महाराज भीष्म ने महाराज पाण्डु का एक और विवाह भद्र देश के महाराज शल्य की बहन माद्री के साथ करा दिया। भीष्म ने विदुर का विवाह भी महाराज देवक की दासी की पुत्री से करा दिया।

ऊपर हमने महाराज पाण्डु के कुरुदेश का सम्राट बनाये जाने तथा महाराज पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुर के विवाहों की चर्चा की है। अब आगे हम महाराज पाण्डु की दिग्विजय की चर्चा करेंगे।

महाराज पाण्डु की दिग्विजय :

अब महाराज पाण्डु ने अपने सम्राट के पद के नवीनीकरण के लिए दिग्विजय निश्चय किया और उन्होंने दशार्ण देश, मगध एवं विदेह प्रभृति देशों पर विजय प्राप्त ली। यतः उस युग में कौरवों और पाण्डवों का कुल ही भारत के समस्त नरेशों में स... अधिक उन्नति कर रहा था और इसी कुल में भीष्म जैसे बड़े महापुरुष एवं विदुर ... बड़े धर्मज्ञ विद्यमान थे तथा इसी कुल के आश्रय में भारत प्रसिद्ध कई धनुर्धर भी विद्यम... थे। अतः इस कुल का प्रतिरोध करने वाला उस युग में भारत में अन्य कोई नरेश न... था। फलतः अल्प श्रम से ही महाराज पाण्डु ने भारतवर्ष के तत्कालीन नरेशों पर विज... प्राप्त कर ली। अधिकांश नरेश तो बिना युद्ध के ही महाराज पाण्डु को चक्रवर्ती सम्रा... मानने के लिए उद्यत हो गये।

यद्यपि कुरुराज्य के नरेश चक्रवर्ती सम्राट माने ही जाते थे, फिर भी उस युग में य... नियत था कि सम्राट लोग भी कुछ-कुछ काल के पश्चात् अपने सम्राट के पद के नवीनीकरण के लिए दिग्विजय किया करते थे। तद्नुसार ही महाराज पाण्डु ने दिग्विजय की थी।

महाराज पाण्डु का वन गमन और वहीं युधिष्ठिर आदि पुत्रों का जन्म :

महाराज "पाण्डु" अपने "पाण्डुरोग" के कारण पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ थे, इतना ही नहीं, उनके विषय में वैद्यों ने बतला दिया था कि यदि आप किसी स्त्री के साथ संभोग करेंगे तो तुरन्त मर जायेंगे, अतः अपनी दिग्विजय के पश्चात् उन्होंने राज्य का शासन भार धृतराष्ट्र को समर्पित कर दिया और स्वयं अपनी दोनों महारानियों कुन्ती और माद्री के साथ वन में जाकर रहने लगे। जब श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने महाराज पाण्डु को बतलाया कि एक गृही के लिए धर्मानुसार पुत्र आवश्यक होता है, तो उन्होंने अपनी पटरानी कुन्ती को आदेश दिया कि तुम मेरे लिए अपने गर्भ से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न कराओ। तद्नुसार ही कुन्ती ने महाराज पाण्डु के लिए नियोग द्वारा तीन पुत्र उत्पन्न कराये। नियोगज पुत्र के विषय में हम पहले बतला ही चुके हैं। कुन्ती ने प्रथम पुत्र एक ऐसे महापुरुष से उत्पन्न कराया जो उस काल में धर्मराज (यमराज) के समान न्यायप्रियों एवं धर्मज्ञों में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था, इस पुत्र का नाम युधिष्ठिर रखा गया। दूसरा पुत्र कुन्ती ने उस काल के शारीरिक बल मे सर्वश्रेष्ठ वायु देवता के समान बलिष्ट एक महापुरुष से उत्पन्न कराया और उसका नाम भीम रखा गया। पुराणों में कहा गया है कि भीम का शरीर इतना सशक्त था कि एक बार जब भीम कुन्ती की गोद से खिसककर एक प्रस्तर खण्ड पर गिर पड़ा तो वह पत्थर ही चकनाचूर हो गया। कुन्ती ने अपना तीसरा पुत्र अपने काल के शस्त्रास्त्र संचालन में इन्द्र के समान पूर्ण कुशल एक महापुरुष से नियोग द्वारा एक और पुत्र उत्पन्न कराया और उसका नाम अर्जुन रखा गया। महाराज पाण्डु ने पटरानी कुन्ती को पुनः आदेश

(61)
दिया कि जैसे तुमने अपने गर्भ से नियोग द्वारा तीन पुत्र उत्पन्न कराये हैं, वैसे ही माद्री के गर्भ से भी एक ऐसा पुत्र उत्पन्न करा दो, जो देवताओं के वैद्य अश्वनी कुमारों के समान शरीर से अति सुन्दर एवं स्वास्थ्य विज्ञान में अतिकुशल हो। तदनुसार ही कुन्ती ने एक ऐसे स्वास्थ्य विज्ञान में कुशल महापुरुष से नियोग द्वारा माद्री को गर्भ धारण करवाया। माद्री के गर्भ से अश्वनी कुमारों जैसे ही दो यमज (जुड़वा) पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम नकुल तथा सहदेव रखे गये। नकुल शरीर से अति सुन्दर थे तथा सहदेव अपने काल के श्रेष्ठ पण्डितों में से थे।

दुर्योधन आदि पुत्रों का जन्म एवं विवाह :

धृतराष्ट्र द्वारा गान्धारी के गर्भ से दुर्योधन, दु:शासन, विकर्ण एवं चित्रसेन आदि कई पुत्र तथा दुश्शला नामक एक कन्या उत्पन्न हुई। ज्ञातव्य है कि महाराज पाण्डु के पुत्र भीम और महाराज धृतराष्ट्र के दुर्योधन का जन्म एक ही दिन हुआ था। महाराज धृतराष्ट्र के, एक वैश्य जाति की दासी से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम युयुत्सु रखा गया था। पुराणों में जो कहा गया है कि महाराज्ञी गान्धारी के गर्भ से महाराज धृतराष्ट्र के सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। इस वचन का केवल इतना ही अर्थ है कि गान्धारी से धृतराष्ट्र के जो पुत्र उत्पन्न हुए थे, वे इतने बली थे कि कुछ ही होते हुए भी सौ के बराबर थे। दुर्योधन का जन्म महाराज युधिष्ठिर के पश्चात् एवम् भीम के साथ ही हुआ था, अर्थात् युधिष्ठिर ही राजकुमारों में सबसे ज्येष्ठ थे। धृतराष्ट्र ने पुत्रों के सयाने होने पर उनका विवाह योग्य कन्याओं के साथ ही कर दिया तथा पुत्री दुश्शला का विवाह सिन्धु देश के नरेश "जयद्रथ" के साथ कर दिया।

कौरव और पाण्डव :

हम आगे "कौरव" और "पाण्डव" शब्दों का बराबर प्रयोग करते रहेंगे। अतः इन शब्दों का अर्थ ठीक प्रकार से हृदयंगम कर लेना चाहिए। यद्यपि धृतराष्ट्र और पाण्डु दोनों ही कुरु वंश में ही उत्पन्न हुए थे, किन्तु धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रों दुर्योधन, दु:शासन तथा विकर्ण आदि को ही "कौरव नाम से अभिहित किया जाने लगा था और महाराज पाण्डु तथा उनके पाँचों पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल एवं सहदेव को "पाण्डव" नाम से अभिहित किया जाने लगा था। कौरवों और पाण्डवों के शील स्वभाव तथा आचार-विचार एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत थे। कौरव अर्थात् धृतराष्ट्र और उनके पुत्र दुर्योधन, दु:शासन आदि बड़े ही असत्याचारी एवं स्वेच्छाचारी थे, धर्म-अधर्म की उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती थी। किन्तु पाँचों भाई पाण्डव बड़े ही धर्मात्मा थे। परिणामतः प्रजाजन बराबर पाण्डवों की बड़ी प्रशंसा किया करते थे, किन्तु प्रजाजन कौरवों की बराबर निन्दा किया करते थे।

महाराज पाण्डु का स्वर्गमन :

ऊपर बतलाया जा चुका है कि यद्यपि महाराज पाण्डु कुरुदेश के सम्राट पद पर अभिषिक्त हो चुके थे, फिर भी अपने स्वास्थ्य के कारण वे अपनी महारानियों कुन्ती और

माद्री के साथ वन में जाकर रहने लग गये थे और एक तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगे थे। वन में ही उन्होंने अपने लिए अपनी धर्म पत्नियों से नियोग द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न करवाये थे।

वैद्यों ने महाराज पाण्डु को वर्जित कर रखा था कि आप अपने इस वनवासी जीवन में धर्म पत्नियों के साथ सहवास नहीं करेंगे, अन्यथा आपकी मृत्यु हो जायेगी। किन्तु एक दिन महाराज पाण्डु ने माद्री के साथ सहवास कर ही दिया जिससे वे तुरन्त दिवंगत हो गये और महारानी माद्री भी उनके साथ सती हो गयीं, क्योंकि महाराज पाण्डु माद्री के साथ संभोग के कारण ही दिवंगत हुए थे।

महाराज्ञी कुन्ती का हस्तिनापुर को लौटना :

महाराज पाण्डु के देहावसान के पश्चात् महारानी कुन्ती अपने पाँचों पाण्डव पुत्रों के साथ हस्तिनापुर लौट आयीं।

असत्याचार के युग की काली छाया :

जब महाराज पाण्डु के देहावसान के पश्चात् महाराज्ञी कुन्ती अपने पाँचों पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर लौट आयीं, तो उन्ही दिनों भारतवर्ष में ही नहीं वरन् सारे संसार में असत्याचार के बादलों की काली छाया धीरे-धीरे प्रकट होने लग गयी थी। न जाने कौन-सी हवा चल पड़ी थी कि भारतवर्ष के ही राजे-महाराजे नहीं वरन् समस्त संसार के राजे महाराजे अन्यायी एवं असत्याचारी होने लग गये थे। इस काल के राजाओं, महाराजाओं के मन में यह भाव जागृत हो गया था कि जनता से अधिक से अधिक कर प्राप्त करके ''खाओ पियो और मौज उड़ाओ'' की नीति ही उत्तम नीति है। इस अन्याय एवं अत्याचार के युग का आभास मुनि व्यास को तभी होने लग गया था, जब महाराज्ञी कुन्ती पाँचों पाण्डवों के साथ वन में से हस्तिनापुर लौट आयी थी और हस्तिनापुर में उनकी उपस्थिति से महाराज धृतराष्ट्र उनका पुत्र दुर्योधन दोनों बहुत दुःखित प्रतीत होने लग गये थे। बात यह थी कि कुरुदेश के वास्तविक सम्राट तो महाराज पाण्डु ही थे, धृतराष्ट्र को तो उन्होंने अपनी ओर से कुरुदेश पर शासन करने के लिए नियत कर दिया था। धृतराष्ट्र और उनका पुत्र दुर्योधन दोनों समझ रहे थे कि यदि कुन्ती अपने पाँचों पाण्डवों के सयाने हो जाने पर हमें कुरु देश का राज्य पाण्डवों के सर्वश्रेष्ठ भ्राता युधिष्ठिर को लौटा ही देना पड़ेगा और हम लोगों को उनके आश्रित के रूप में रहना पड़ेगा। इसी से धृतराष्ट्र और दुर्योधन कुन्ती के हस्तिनापुर लौटने से बहुत दुःखित थे। यद्यपि धृतराष्ट्र और दुर्योधन ने अपनी चिन्ता को प्रकट नहीं किया, किन्तु अन्ततोगत्वा सच्चाई तो प्रकट हो ही जाती है। लोगों को धृतराष्ट्र और दुर्योधन के व्यवहारों में असत्याचार की झलक दिखलायी पड़ने लग ही गयी। मुनि वेदव्यास ने तो धृतराष्ट्र और दुर्योधन के भावो को बहुत पहले ही से जान लिया था और वे तो सोचने लगे थे कि ''यतः अन्याय एवं

अत्याचार के दिन अधिक दिनों तक नहीं टिकते, अतः कौरवों का भी शीघ्र ही विनाश अवश्यंभावी है। इसीलिए उन्होंने माता सत्यवती और अम्बिका एवं अम्बालिका से कहा, "माताजी और देवियों अब सुख के दिन गये, बड़े बुरे दिन आने वाले हैं। यतः प्रकृति का नियत है कि अन्याय एवं अत्याचार का युग अधिक काल तक नहीं चलता है, थोड़े ही दिनों में मुझे कौरवों का विनाश निश्चित दिखलायी पड़ता है। मैं तो तुम लोगों को परामर्श देता हूँ कि तुम लोग तपस्या करने के लिए वन में चली जाओ और वहीं अपने शरीर त्याग दो।"

तदनुसार सत्यवती, अम्बिका एवं अम्बालिका वन में तपस्या करने के लिए चली गयीं और वहीं उन्होंने अपने शरीर त्याग दिये।

अध्याय-एक 'ख'

पाण्डवों के विनाश के कुचक्र :

ऊपर बतलाया जा चुका है कि महाराज पाण्डु अपनी महारानियों के साथ वन में रह रहे थे, जहाँ वे दिवंगत हो गये और उनकी छोटी रानी माद्री उनके साथ सती हो गयीं, क्योंकि उन्हीं के साथ सहवास से उनका देहावसान हुआ था।

अब महाराज पाण्डु के देहावसान पर महाराज्ञी कुन्ती पाँचों पाण्डवों अर्थात् युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के साथ हस्तिनापुर लौट आयीं।

जब पाण्डव लोग हस्तिनापुर लौट आये तो महाराज धृतराष्ट्र और उनके पुत्र दुर्योधन आदि ने भली-भाँति समझ लिया कि, "यतः महाराज पाण्डु ही कुरुदेश के सम्राट थे, अतः जब युधिष्ठिर आदि पाण्डव सयाने हो जायेंगे, तो हमें कुरुदेश का राज्य उन्हें लौटा देना पड़ेगा, जो हमारे लिए एक बहुत बड़े दुःख और क्लेश की बात होगी। अतः यदि हम चाहते हैं कि हम कुरुदेश पर बराबर शासन करते रहें तो हमें चाहिए कि या तो हम पाण्डवों का विनाश कर दे या उन्हें इतना निर्बल बना दे कि वे हमसे अपना राज्य वापस न ले सकें।

अब महाराज धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों ने पाण्डवों के विनाश के लिए अपने कुचक्रों का क्रम प्रारम्भ कर दिया। दुर्योधन ने कई बार पाण्डवों के विशेषतया भीम के भोजन में विष मिलवा दिया, किन्तु दैवयोग से वे सदैव बचते रहे। एक बार तो दुर्योधन ने भीम को गंगा के तट पर ले जाकर उनके भोजन में विष मिला दिया और जब भीम अचेत हो गये तो उन्हें गंगा में ढकेल दिया किन्तु भीम के सम्बन्धी एक नाग जातीय महापुरुष ने गंगा जी में भीम का मृत शरीर प्रायः बहता हुआ देख लिया। उसने भीम को पहचान कर उन्हें नदी में से निकाल लिया और अपने घर ले जाकर उनका उचित उपचार किया तथा उनके स्वस्थ हो जाने पर उन्हें माता कुन्ती के पास भेजवा दिया। भीम ने ये समस्त बातें माता कुन्ती, विदुर और भीष्म पितामह आदि से कहीं, किन्तु सबने धृतराष्ट्र के क्रुद्ध हो जाने के भय से समस्त बातें गुप्त रखी।

कौरव और पाण्डव राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा तथा महाराज युधिष्ठिर को युवराज पद : (64)

कौरव और पाण्डव राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का कार्य बराबर चलता रहा। कृपाचार्य जो द्रोणचार्य के साले थे, पहले से ही कौरव और पाण्डव राजकुमारों को शस्त्रास्त्र संचालन की शिक्षा दे रहे थे, किन्तु पश्चात् द्रोणाचार्य भी जो तब तक वनों ही में रहा करते थे, भीष्म पितामह द्वारा एतदर्थ नियुक्त कर लिए गये थे। महाराज द्रोणाचार्य जी के कौरव और पाण्डव राजकुमारों का गुरु नियत किये जाने की कथा बड़ी मनोरंजक है, किन्तु उसका हम यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे। पाठक इस कथा को जानने के लिए परिशिष्ट स्कन्ध का अध्याय एक पढ़ ले। यह कथा इसलिए विशेष मनोरंजक है कि महाराज द्रोणाचार्य को कौरव और पाण्डव राजकुमारों को शस्त्रास्त्रों के संचालन की शिक्षा देने के लिए नियत किये जाने पर गुरुदक्षिणा के प्रसंग में उन्हें पांचाल देश का एक भाग ही प्राप्त हो गया था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी।

इधर धृतराष्ट्र को प्रजा के भावों को दृष्टिगत करते हुए अपनी इच्छा के विरुद्ध राजकुमार युधिष्ठिर को युवराज भी घोषित करना पड़ा ही, क्योंकि तत्कालीन प्रथा के अनुसार महाराज युधिष्ठिर को ही युवराज बनाया जा सकता था।

जब युधिष्ठिर को महाराज धृतराष्ट्र ने प्रजा के दबाव से युवराज घोषित कर दिया तो प्रजाजन युधिष्ठिर को बहुत चाहने लग गये।

पाण्डवों का माता कुन्ती के साथ वारणावत भेजा जाना एवं लाक्षागृह दाह

प्रजाजनों को युधिष्ठिर प्रमुख पाण्डवों के प्रति आदर भाव देखकर धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों चिन्तित होने लगे और अन्त में एक दिन दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र से कहा, ''यदि आप किसी बहाने पाण्डवों को माता कुन्ती के साथ हस्तिनापुर से बहुत दूर कुरुराज्य की सीमा पर स्थित वारणावत नगर में भेज दे, तो उनका सम्बन्ध हस्तिनापुर से विच्छिन्न हो जायेगा, तब मैं पहले तो वारणावत में ही उनके विनाश का कोई उपाय रचूँगा और हस्तिनापुर में उनके विरुद्ध ऐसा वातावरण तैयार कर दूँगा कि उनकी शक्ति बहुत क्षीण हो जायेगी। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के परामर्शानुसार पाण्डवों को माता कुन्ती के साथ यह कहकर वारणावत भेज दिया कि, आप लोगों के वारणावत में रहने से कुरुदेश के शासन में मुझे बड़ी सुविधा होगी।

अब पाण्डवों ने महाराज धृतराष्ट्र के आदेश पर माता कुन्ती के साथ वारणावत को प्रस्थान किया।

इतिहासकारों का कथन है कि वारणावत नगर में दुर्योधन ने लाक्षा (लाख) आदि के संयोग से निर्मित पदार्थों से एक सुन्दर महालय (महल) भी बनवा रखा था। उसी में पाण्डवों को माता कुन्ती के साथ ठहराया गया।

(65)

दुर्योधन की योजना थी कि जब पाण्डव और माता कुन्ती वारणावत में रहने लगेंगे, तो एक दिन रात में लाक्षादि (लाख) अतिज्वलनशील पदार्थ से बने हुए महालय में आग लगवा दी जायेगी और पाण्डव जलकर भस्म हो जायेंगे। किन्तु महात्मा विदुर को दुर्योधन के इस षड्यन्त्र का ज्ञान था और उन्होंने ग्रीक भाषा में युधिष्ठिर को सारी बातें बतला दी थी, क्योंकि महात्मा विदुर और युधिष्ठिर दोनों ग्रीक भाषा जानते थे।

यतः महाराज युधिष्ठिर को विदुर जी के द्वारा लाक्षागृह दाह के सम्बन्ध में दुर्योधन के षड्यन्त्र का पूर्ण ज्ञान हो गया था, अतः उन्होंने लाक्षागृह के भीतरी प्रांगण में एक सुरंग खुदवा रखी थी, जिसका अन्तिम द्वार एक वन में निकलता था। लाक्षागृह में आग लगा दिये जाने पर पाण्डव लोग माता कुन्ती के साथ इसी सुरंग में से होकर सुरक्षित बाहर निकल गये और घूमते-घामते पांचाल देश में पहुँच गये।

इधर दुर्योधन और धृतराष्ट्र यह सोचकर प्रसन्न हो रहे थे कि पाण्डव और कुन्ती तो जल ही मरे होंगे। किन्तु लोगों को दिखलाने के लिए वे बनावटी शोक का प्रदर्शन भी करते रहे।

द्रौपदी का स्वयंवर :

वारणावत के लाक्षागृह दाह से बच निकलने के पश्चात् युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पाँचों भाई पाण्डव माता कुन्ती के साथ घूमते-घामते पांचालों के राज्य में पहुँच गये। दैवात् उन्हीं दिनों पांचाल नरेश महाराज द्रुपद अपनी सुपुत्री द्रौपदी के स्वयंवर का आयोजन कर रहे थे। स्वयंवर सभा में भारत के सभी बड़े-बड़े सम्राट या नरेश उपस्थित थे। पाण्डव भी इस स्वयंवर सभा में ब्राह्मणों के वेश में दर्शक के रूप में उपस्थित थे।

भगवान कृष्ण को महाराज द्रुपद ने स्वयंवरोत्सव के अवसर पर विशेषतया आमंत्रित किया था।

स्वयंवर की सन्धा के अनुसार आकाश में लटकाई हुई एक बराबर घूमती हुई मछली की आँख में उसकी परछाई को नीचे रखे हुए एक तेल से भरे हुए कराहे में देखकर तीर मारना था और वह भी एक ऐसे धनुष से जिसकी प्रत्यंचा चढ़ाना भी बड़े बड़े धनुर्धारियों के लिए सरल नहीं था।

स्वयंवर के अवसर पर जब बड़े-बड़े धनुर्धारी मछली की आँख में तीर मारने में असफल हो गये तो दर्शकों के बीच में से ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन भी उठकर धनुष की ओर बढ़े। अर्जुन को धनुष के समीप जाता हुआ देखकर ब्राह्मणों ने बड़ी हर्ष ध्वनि की। अन्त में अर्जुन ने स्वयंवर की सन्धा के अनुसार मछली की आँख में तीर मार ही दिया। इस प्रकार अर्जुन ने द्रौपदी को जीत लिया।

भगवान कृष्ण और पाण्डव :

द्रौपदी का स्वयंवर अपने काल का इतना बड़ा स्वयंवरोत्सव था कि भारतवर्ष के प्रायः सभी राजे-महाराजे स्वयंवर सभा में पधारे थे। भगवान कृष्ण भी स्वयंवर सभा में

उपस्थित थे। तब तक भगवान् कृष्ण अपने अद्भुत कर्तृत्वों के कारण भारतवर्ष में बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे और द्वारका में अपने यादव साम्राज्य की स्थापना भी कर चुके थे तथा दिन-प्रतिदिन उनकी ख्याति बढ़ती ही जा रही थी। महाराज द्रुपद तो भगवान् कृष्ण के सत्याचार और उनकी न्यायप्रियता से बहुत ही प्रभावित थे।

पाण्डव भगवान् कृष्ण के सगे फुफेरे भाई थे। जब भगवान् कृष्ण द्वारका के सर्वेसर्वा बने, उसके पहले से ही वे पाण्डवों का समाचार बराबर लेते रहते थे। वे महाराज धृतराष्ट्र के पाण्डवों के प्रति नीच व्यवहार से भली-भाँति परिचित थे। किन्तु यत: तब तक पाण्डवों का अपना कुछ दृढ़ अस्तित्व नहीं बन सका था, अत: उनसे भगवान् कृष्ण अपनी घनिष्ठता स्थापित नहीं कर सके थे।

भगवान् कृष्ण स्वयंवर सभा में पाण्डवों को पहचान गये थे किन्तु तब उन्होंने यह बात किसी पर प्रकट नहीं की थी। जब अर्जुन ने स्वयंवर में द्रौपदी को जीत लिया तब भगवान कृष्ण ने स्वयंवर सभा में उपस्थित सभी राजाओं-महाराजाओं से पाण्डवों की तब तक की कथा बतलायी और उपयुक्त समय समझ कर उन्होंने पाण्डवों की सहायता करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

भगवान कृष्ण का महाराज द्रुपद को समझाना :

भगवान कृष्ण ने महाराज द्रुपद को समझाया कि किस प्रकार पाण्डव लोग अपने पिता का राज्य यदि पूर्ण नहीं तो कम से कम आधा तो महाराज धृतराष्ट्र से ले ही सकते हैं।

अब भगवान कृष्ण के परामर्श से महाराज द्रुपद ने आगे की कार्यवाही प्रारम्भ की।

द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों के साथ विवाह :

सबसे पहले द्रौपदी का विधिवत् विवाह कराया गया। द्रौपदी के विवाह की विशेषता यह थी कि यद्यपि उनका विवाह एक अर्जुन के साथ ही होना चाहिए था, किन्तु उनका विवाह पाँचों ही पाण्डवों के साथ हुआ। इसके विषय में एक मनोरंजक कथा प्रसिद्ध है जो इस प्रकार है।

बात यह थी कि महाराज द्रुपद की राजधानी "कम्पिल्य नगर" में पाँचों भाई पाण्डव एक कुम्हार के घर पर ठहरे हुए थे, वहीं ब्राह्मण वेशधारी पाण्डव प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाते थे, और माता कुन्ती भिक्षा से प्राप्त अन्न से भोजन बनाकर उन्हें खिलाती थी। जिस दिन पाँचों भाई पाण्डव नगर में आयोजित द्रौपदी के स्वयंवर में उसे अर्जुन द्वारा जीत लिये जाने के पश्चात् उस कुम्हार के घर पर गये, तो घर के द्वार पर से ही अर्जुन ने प्रसन्नता से चिल्लाकर कहा, माँ आज हमें भिक्षा में एक अपूर्व वस्तु मिली है, माता कुन्ती घर के भीतर किसी कार्य में व्यस्त थीं। उन्होंने समझा कि आज मेरे पुत्रों की भिक्षा में कोई बड़ा स्वादिष्ट पदार्थ मिला है, अत: उन्होंने भीतर से ही कहा, तुम पाँचों भाई बाँटकर उस अपूर्व पदार्थ का उपभोग करो।

(67) किन्तु जब माता कुन्ती को ज्ञात हुआ कि "भिक्षा में पुत्रों को कोई वैसा स्वादिष्ट पदार्थ नहीं मिला है, वरन् एक युवती (द्रौपदी) मिली है, तो वे बड़े असमंजस में पड़ीं। महाराज्ञी कुन्ती आज तक झूठ नहीं बोली थीं, किन्तु आज जो बात उनके मुख से निकल गयी, उसका अर्थ उनके वचन को मिथ्या ठहराना ही था, क्योंकि एक युवती का पाँचों भाई उपभोग नहीं कर सकते थे। पाँचों भाई पाण्डव भी अपनी माता के वचन को मिथ्या नहीं होने देना चाहते थे, अतः व्यास मुनि के परामर्श से पाँचों पाण्डवों ने साथ ही अकेली द्रौपदी के साथ विवाह करने का निश्चय किया। उन दिनों कुरुराज्य के उत्तरी भाग में क्षत्रियों की एक ऐसी जाति भी रहती थी, जिसमें एक ही पत्नी के साथ कई पतियों के विवाह की प्रथा प्रचलित थी। आज भी देहरादून के जौनसार भाभर नामक तहसील में ऐसी जातियाँ विद्यमान हैं। संभवतः पाण्डवों ने अपनी माता के वचन को मिथ्या न होने देने के लिए इन्हीं जातियों का अनुसरण किया हो। तद्नुसार ही पाँचों पाण्डवों ने एक ही द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया।

पाँचों पाण्डवों का द्रौपदी के साथ विवाह हो जाने के पश्चात् अब महाराज द्रुपद ने अपनी आगे की कार्यवाही प्रारम्भ की। सबसे पहले भगवान् कृष्ण के परामर्श से उन्होंने महाराज धृतराष्ट्र से सम्पर्क स्थापित किया।

महाराज द्रुपद का सम्राट धृतराष्ट्र से सम्पर्क स्थापन :

भगवान कृष्ण के परामर्शानुसार महाराज द्रुपद ने सम्राट धृतराष्ट्र से सम्पर्क स्थापित किया। महाराज धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन आदि तो द्रौपदी स्वयंवर में अर्जुन द्वारा द्रौपदी के जीत जाने की बात जान ही चुके थे और वे समझ रहे थे कि अब पाण्डवों को उनके पिता का कुरुराज्य लौटाना पड़ सकता है। इससे वे बड़ी चिन्ता में थे।

जब महाराज द्रुपद ने सम्राट धृतराष्ट्र से सम्पर्क किया तो धृतराष्ट्र को यह बात स्पष्टतया जान पड़ने लगी कि पाण्डव महाराज द्रुपद के बल से मुझसे युद्ध कर सकते हैं।

पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का राज्य :

अन्ततोगत्वा सम्राट धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को सम्मानपूर्वक पांचाल देश से बुलाया और उन्हें कुरुराज्य का आधा उत्तरी भाग समर्पित कर दिया।

अब पाण्डवों ने कुरुराज्य के उत्तरी भाग में इन्द्रप्रस्थ नामक एक नगर का निर्माण करके उसे अपनी राजधानी बनाया और महाराज युधिष्ठिर प्रमुख पाँचों भाई पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में भगवान कृष्ण के परामर्श से शासन करने लगे।

स्कन्ध 'सात'

प्राक्कथन

स्कन्ध छः के अन्त में बतलाया गया कि भगवान् कृष्ण की सहायता से जेष्ठ पाण्डव महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ के नरेश बन गये।

अब भगवान् कृष्ण एवं पाण्डवों के बीच घनिष्ठता बढ़ने लगी और दोनों एक-दूसरे की सहायता से भारत वर्ष में पूर्णतया चमकने लगे।

भगवान् कृष्ण भारत वर्ष के पूर्वी भाग में चीनी मूल के नवोद्रित सम्राट भौमासुर पर विजय प्राप्त करके भारत के सबसे बड़े और बलिष्ट महापुरुष बन गये। भगवान् कृष्णा को भौमासुर पर विजय प्राप्ति के प्रसंग में उस हर्म्य में विराजमान सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियों से उनकी प्रार्थना पर विवाह भी करना पड़ा, फलतः भगवान् कृष्णा अपनी सोलह सहस्र एक सौ पत्नियों एवं पहले की आठ पटरानियों के साथ द्वारका में एक आदर्श सुखी गृहस्थ का जीवन व्यतीत करने लगे।

स्कन्ध सात (क)

भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के बीच बढ़ती हुई घनिष्ठता :

यद्यपि पाण्डव भगवान् कृष्ण के सगे फुफेर भाई थे, फिर भी उनके और पाण्डवों के बीच घनिष्ठता इसलिए नहीं बढ़ पा रही थी कि पाण्डवों का अपना कोई दृढ़ अस्तित्व नहीं बन सका था। किन्तु जब भगवान् कृष्ण और महाराज द्रुपद के प्रयत्न से पाण्डवों को कुरु जांगल का आधा राज्य प्राप्त हो गया तो इन्द्रप्रस्थ मे जाकर शासन करने लगे। अब उनका एक दृढ़ अस्तित्व बन गया और भगवान् कृष्ण तथा पाण्डवों के बीच घनिष्ठता बढ़ने लगी।

पाण्डव भगवान् कृष्ण के परामर्श के अनुसार ही इन्द्रप्रस्थ में शासन करने लगे। फलतः पाण्डवों के सुशासन से कुरु देश के उत्तरी भाग की प्रजा अल्पकाल मे ही बहुत समृद्ध हो गयी।

अब भगवान् कृष्ण और बलराम द्वारका से बराबर इन्द्रप्रस्थ आने-जाने लगे और पाण्डवों को आवश्यकतानुसार उचित परामर्श देते रहे।

अर्जुन के साथ सुभद्रा का विवाह :

भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के बीच घनिष्ठता उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी, जब भगवान् कृष्ण ने अपनी बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ कर दिया।

सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह की पृष्ठभूमि निम्नांकित है–

(69) महर्षि नारद का पाण्डवों को उपदेश :

एक बार महर्षि नारद ने पाण्डवों को समझाया कि द्रौपदी यतः पाँचों भाइयों की ही सम्मिलित पत्नी है, अतः उनके साथ सहवास के प्रश्न को लेकर पाँचों भाइयों के बीच में कभी कोई विवाद खड़ा न हो जाये, एतदर्थ यह आवश्यक है कि पाँचों भाई यह नियम बना लें कि, यदि किसी कुटीर में द्रौपदी के साथ कोई भाई बैठा हो, तो दूसरा भाई उसमें प्रवेश न करे और यदि किसी कारण उस कुटीर में प्रवेश हो ही जाये तो प्रवेश करने वाला बारह वर्षों तक घर से बाहर रहकर जीवन व्यतीत करें। ऐसे नियम भंग करने वाले भाई को बारह वर्षों तक सब कुछ करने की आज्ञा थी, यहाँ तक कि वह विवाह भी कर सकता था। उसके लिए केवल इन्द्रप्रस्थ में अर्थात् अपने घर में प्रवेश करना ही निषिद्ध था।

दैवात् अर्जुन द्वारा महर्षि नारद के निर्धारित किये हुए उपर्युक्त नियम का एक दिन उल्लंघन हो गया और परिणामस्वरूप अर्जुन बारह वर्षों तक इन्द्रप्रस्थ से बाहर देश-देशाटन में घूमते रहे।

अर्जुन से उलूपी और चित्रांगदा के विवाह :

जब अर्जुन देश-देशान्तर में विचरण कर रहे थे, उन्हीं दिनों में उनके दो विवाह हो गये, पहला विवाह हरिद्वार के समीप रहने वाले नाग जाति के एक छोटे से नरेश की कन्या उलूपी के साथ हुआ। उलूपी अर्जुन को देखकर उन पर आसक्त हो गयी और उनके साथ विवाह करके कुछ दिनों तक उन्हें अपने राज्य में ही रखा।

ऐसे ही जब अर्जुन ने एक दिन घूमते-घामते भारत की पूर्वी सीमा पर स्थित मणिपुर नामक राज्य में प्रवेश किया तो वहाँ के नरेश चित्रवाहन ने अपनी कन्या चित्रांगदा का विवाह उनके साथ कर दिया, क्योंकि इन दोनों में परस्पर प्रेम हो गया था। चित्रांगदा से अर्जुन का जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम बभ्रुवाहन रखा गया था। चित्रवाहन ने बभ्रुवाहन को अपने परिवार के नियमों के अनुसार अपने पास ही रख लिया।

अर्जुन से सुभद्रा की भेंट एवं विवाह :

इन्द्रप्रस्थ से बाहर रहने की बारह वर्ष की अवधि के अन्तिम वर्ष में जब अर्जुन घूमते-घामते एक दिन द्वारकापुरी में पहुँचे, तो वहाँ भगवान् कृष्ण की बहन सुभद्रा से एक पहाड़ी पर उनकी भेंट हो गयी। अर्जुन एवं सुभद्रा में प्रेम हो गया। अतः अर्जुन एक वर्ष तक भगवान् कृष्ण के साथ द्वारका ही में ठहरे रहे। तब तक बारह वर्षों वाली घर से बाहर रहने की अर्जुन की अवधि व्यतीत हो चुकी थी। बारह वर्षों का काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् अर्जुन अपने भाइयों के पास श्रीकृष्ण एवं बलराम तथा सुभद्रा के साथ इन्द्रप्रस्थ लौटे।

सुभद्रा के साथ विवाह एवं भगवान् कृष्ण और पाण्डवों में पूर्ण घनिष्ठता :

भगवान् कृष्ण एवं बलराम के साथ अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ लौटने पर अब बड़ी धूमधाम से अर्जुन एवं सुभद्रा का विवाह सम्पन्न हुआ। इस विवाह के फलस्वरूप भगवान् कृष्ण एवं पाण्डवों के बीच घनिष्ठता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी।

विवाह के पश्चात कुछ दिनों तक भगवान् कृष्ण और बलराम इन्द्रप्रस्थ ही में ठहरे रहे और भगवान् कृष्ण के परामर्श से महाराज युधिष्ठिर ने उत्तर कुरु राज्य में स्थित एक बड़े विशाल वन को जिसका नाम खाण्डव वन था, जलाकर अपने राज्य का क्षेत्रफल बहुत अधिक बढ़ा लिया। खाण्डव वन दाह की कथा निम्नांकित है–

भगवान् कृष्ण के परामर्श से उत्तर कुरुराज्य का विस्तार (खाण्डव वन दाह)

खाण्डव वन यद्यपि महाराज युधिष्ठिर के राज्य ही में स्थित था, फिर भी उस पर स्वर्गलोक (आधुनिक भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश का उत्तरांचल) के अधिपति महाराज इन्द्र बलात् अधिकार किये हुए थे और उन्होंने कुछ थोड़े से नाग और दानव जाति वालों को जिनमें तक्षक एवं दानव प्रधान थे, अपनी ओर से बसा रखा था। ये नाग एवं दानव इतने बड़े वनपूर्ण भू-भाग में रहते हुए उसका दुरुपयोग ही कर रहे थे। भगवान् कृष्ण के परामर्श से महाराज युधिष्ठिर ने खाण्डव वन को जलाकर उस विशाल भू-भाग को अपने इन्द्रप्रस्थ राज्य का एक अंग बना लेना उपयुक्त समझा। एतदर्थ उन्हें पहले स्वर्गलोक (आधुनिक भारत के उत्तर प्रदेश का उत्तराखण्ड) के अधिपति महाराज इन्द्र से युद्ध भी करना पड़ा। महाराज इन्द्र अर्जुन और श्रीकृष्ण के बाणों के समक्ष टिक नहीं सके और अन्त में उन्होंने पराजित होकर खाण्डव वन महाराज युधिष्ठिर को दे ही दिया।

मयदानव का युधिष्ठिर की शरण में जाना :

युद्ध में इन्द्र के साथ ही तक्षक एवं मयदानव भी पराजित हो गये। तक्षक तो खाण्डव वन छोड़कर असुर देश में जाकर रहने लगा, जहाँ वह पहले रहा करता था। (असुर देश वही था, जिसे आजकल पश्चिम एशिया कहा जाता है और जो त्रेतायुग से ही आर्यों का एक सामन्त राज्य बन गया था।) किन्तु मयदानव महाराज युधिष्ठिर की शरण में गया।

पाण्डवों ने मयदानव पर प्रसन्न होकर उसे यथेच्छ खाण्डव वन या असुर देश में रहने की आज्ञा दे दी। इसके बदले में मयदानव ने पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ में एक बड़ा ही भव्य भवन बना दिया।

मयदानव का स्थापत्य-कौशल

मयदानव अपने काल का सर्वश्रेष्ठ रथपति माना जाता था। उसने पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ में जो भव्य भवन बनाया उसमें कई विचित्रताएँ थीं, यथा कहीं तो उस भवन की भूमि जहाँ साधारण भूमि के ही समान होती थी, वहाँ ऐसा प्रतीत होता था, मानों भूमि में से आग की लपटें निकल रही हों। ऐसे ही कहीं भूमि यद्यपि साधारण भूमि के समान

(71)

...ही शुष्क होती थी, किन्तु वास्तव में वहाँ एक जलकुण्ड होता था। ऐसी ही उस भवन में कई विचित्रताएँ थी।

महाराज युधिष्ठर के निमन्त्रण पर जब एक बार महाराज दुर्योधन पाण्डवों का यह महालय देखने आये थे, तो इन्होंने एक स्थान को, जहाँ वास्तव में जलकुण्ड था, उसे शुष्क भूमि समझकर उस पर टहलना चाहा, परन्तु वे जल में गिरकर भीग गये। द्रौपदी यह दृश्य देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ी और दुर्योधन पर व्यंग्य करते हुए बोली, "अरे भाई, अन्धों के पुत्र अन्धे ही होंगे न?" दुर्योधन पाण्डवों का प्रबल विरोधी था ही। उसे द्रौपदी का इस प्रकार व्यंग्य ऐसा खला कि उसने वहीं नंगी तलवार हिलाते हुए प्रतिज्ञा की कि बस-बस आज से मेरे और पाण्डवों के बीच नंगी तलवार का ही सम्बन्ध रहेगा। अन्त में महाराज युधिष्ठिर ने उसे समझा-बुझाकर शान्त किया।

स्कन्ध सात 'ख'

अध्याय-एक

अब हम भगवान् कृष्ण की उस सबसे बड़ी विजय की चर्चा करेंगे, जिसकी स्मृति में आज भी भारतवर्ष में कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की पूर्णिमा से एक दिन पहले एक छोटी सी दीपावली मनायी जाती है और कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की इस चतुर्दशी को सम्राट भौमासुर या नरकासुर के नाम से "नरक चतुर्दशी" कहा जाता है।

भगवान कृष्ण का नरकासुर के साथ युद्ध :

भगवान कृष्ण के काल में धोबियों के एक बड़े समुदाय ने अपने अधिनायक नरकासुर या भौमासुर के नेतृत्व में भारत देश के पूर्व के पहाड़ी भू-भागों में स्थित प्राग्यज्योतिषपुर नामक नगर (आधुनिक असम प्रदेश में स्थित) में अपने एक राज्य की स्थापना कर डाली थी। उस युग में इस भू-भाग के निवासी बहुत पिछड़े हुए थे, छोटा सा भू-भाग था। अतः नरकासुर प्राग्यज्योतिषपुर नगर में अपने दृढ़ राज्य की स्थापना करने में सफल हो गया। किन्तु पश्चात् चीनियों ने शासन करने के स्थान में लूटमार करने का व्यवसाय अपना लिया। नरकासुर या भौमासुर ने पहले एक विशाल दुर्गाकार नगर की स्थापना की, जो कई मीलों लम्बा चौड़ा था और जिसे दोहरे या तेहरे ही नहीं, वरन् चौहरे पहाड़ियों से बने हुए दण्डवारिक वेस्टनो (चहर दीवारियों) से घेर रखा था और इस दुर्ग में प्रवेश करने या दुर्ग में से बाहर निकलने का मार्ग बहुत ही गुप्त रखा था जिससे नरकासुर या उसके डाकू साथियों को छोड़कर और कोई न तो दुर्ग के भीतर प्रवेश कर सकता था और न बाहर निकल ही सकता था।

यह दुर्ग खाइयों एवं अजेय योद्धाओं के दुहरी तेहरी पंक्तियो द्वारा सुरक्षित था। अपने इस दुर्गाकार नगर में भौमासुर एक बड़े सम्राट के समान निःशंक अपने डाकू साथियों के

साथ रहता था। ये डाकू अज्ञात मार्गों से निकलकर भारत के सभी राजाओं की राजधानियों पर डाका डाला करते थे और उन राजाओं की केवल बहुमूल्य वस्तुओं को ही लूट करते थे। साथ ही भौमासुर नगर की सुन्दर युवतियों को ही हर लिया करता था और उन्हें अपने दुर्ग में बन्द रखता था। इस प्रकार नरकासुर के पास सोलह सहस्र एक सौ अति सुन्दर युवतियाँ हो गयी थीं। नरकासुर या भौमासुर अपने साथियों के साथ इन युवतियों के साथ एक सम्राट के समान क्रीड़ा किया करता था और युवतियों को उनके आदेशानुसार प्रत्येक भोग-विलास की वस्तु से प्रसन्न रखता था।

भारत में उस समय जो सहस्रों राजे-महाराजे शासन कर रहे थे, उनमें से कोई भी नरकासुर का प्रतिरोध नहीं कर पाता था।

नरकासुर ने न केवल भारत के साधारण राजाओं-महाराजाओं को ही लूटा था, वरन् स्वर्गलोक (आधुनिक भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश का उत्तराखण्ड) के अधिपति महाराज इन्द्र को भी लूट लिया था और देवताओं की माता अदिति का कई राज्यों के मूल्य के बराबर मूल्य वाला कुण्डल तथा महाराज वरुण के छत्र एवं चामर तक को लूट लिया था।

भारतवर्ष के सभी राजाओं-महाराजाओं ने नरकासुर से अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर अन्त में भगवान् कृष्ण की शरण ली।

भगवान् कृष्ण ने भारत के राजाओं-महाराजाओं की प्रार्थना सुनी और उन्होंने नरकासुर के विनाशार्थ एक बड़ी सेना तैयार की, जिसके पास पहाड़ी दण्डवारों के तोड़ सकने योग्य उपकरण थे एवं जल की खाइयों पर एक अस्थायी सेतु तैयार कर देने के भी उपकरण थे।

रक्षक मुर का वध एवं मुरारि अभिधान :

सबसे पहले भगवान् कृष्ण ने दुर्ग के रक्षक मुर राक्षस पर ही आक्रमण किया और बड़े श्रम के पश्चात् उस पर विजय प्राप्त की। मुर को जीतना भारतवर्ष के तत्कालीन राजाओं-महाराजाओं के लिए इतना क्लिष्ट कार्य था कि जब भगवान् कृष्ण ने मुर को जीतकर उसका वध कर दिया तो उन्हें लोग सम्मानार्थ एवं प्रशंसार्थ मुरारि के नाम से अभिहित करने लगे।

नरकासुर का वध :

"मुर" के वध के पश्चात् पहाड़ियों के दण्डवारी एवं खाइयों को अपनी सैन्य शक्ति से पार करके अन्त में भगवान् कृष्ण ने भौमासुर के दुर्ग में प्रवेश किया और उसका वध कर डाला।

अब भौमासुर की माता भूमि देवी अपने पुत्र के वध पर भगवान् कृष्ण की शरण में गयी। भगवान् कृष्ण ने उसे अभयदान देकर उसके पौत्र भगदन्त को प्राग्यज्योतिषपुर का नरेश बना दिया। भूमि देवी ने नरकासुर द्वारा भारतवर्ष के विभिन्न नरेशों के यहाँ से लूटकर लायी हुई सभी वस्तुएँ भगवान् कृष्ण को समर्पित कर दीं।

(73)

सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियाँ :

जब भगवान कृष्ण भौमासुर के दुर्ग में घूम रहे थे, तब वहाँ उन्हें वन्दिनियों के रूप में रखी हुई सोलह सहस्र एक सौ उपर्युक्त सुन्दरियाँ मिलीं। भौमासुर एवं उसके साथियों ने भारतवर्ष के विभिन्न भागों से इन सुन्दरियों को हर कर अपने दुर्ग में रख लिया था और उनके साथ भौमासुर एक सम्राट के समान क्रीड़ा किया करता था।

जब ये सुन्दरियाँ भगवान् कृष्ण को मिलीं तो उन्होंने उनसे करबद्ध प्रार्थना की कि भगवन् आपने भूमि देवी को अभयदान देकर उनका कल्याण तो कर दिया, किन्तु आप बतलायें कि अब हम कहाँ जायें? हम अपने माता–पिता के घरों को तो लौट नहीं सकती हैं और जिस सम्मान के साथ भौमासुर ने हमें रखा था, वैसा सम्मान व वैभव देने वाले अब हमें युवक भी नहीं मिल सकते हैं। ऐसी स्थिति में अब हम क्या करें? हम तो चाहती हैं कि अब आप हमें अपने हर्म्य में स्थान दे दें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो हमारे लिए एक ही मार्ग शेष है और वह यह है कि, हम योगिनियाँ बनकर आप के नाम को रटते हुए सारे संसार में भ्रमण करेंगी।

भगवान् कृष्ण से इन सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियों ने जिस प्रकार उपर्युक्त बातें कहीं उससे भगवान् कृष्ण अत्यधिक प्रभावित हुए। बात यह थी कि ये सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियाँ नरकासुर जैसे एक सम्राट की ही पत्नियाँ थीं, अतः भगवान् कृष्ण उनकी उपेक्षा कर ही कैसे सकते थे। अब भगवान् कृष्ण को इसके अतिरिक्त और दूसरा उपाय नहीं सूझ रहा था कि वे इन वन्दिनियों को सुखी बनाने के लिए उन्हें अपने हर्म्य में शरण दें। अतः भौमासुर को जीत लेने के पश्चात् इन सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियों के साथ द्वारकापुरी में प्रवेश किया, जहाँ प्रजाजनों ने इन सुन्दरियों के साथ उनका अति भव्य स्वागत किया।

भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ :

भगवान् कृष्ण की जो पुराणों में सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ बतलायीं गयीं है, वे कैसे हुईं? यह बात उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है। भगवान् कृष्ण के पास आठ पटरानियाँ तो स्वयंवर आदि द्वारा पहले ही से विद्यमान थीं। उपर्युक्त सोलह सहस्र एक सौ सुन्दरियों को जब भगवान् कृष्ण ने अपने हर्म्य में शरण दे दी तो कुल उनके सोलह सहस्र एक सौ आठ पत्नियाँ हो गयीं।

आजकल की छोटी दीपावली :

नरकासुर (भौमासुर) पर भगवान् कृष्ण की विजय बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। भारतवर्ष के सभी महाराजाओं एवं नरेशों ने नरकासुर के वध पर दीपावली मनायी। आज भी कार्तिक मास की अमावस्या को मनायी जाने वाली दीपावली के एक दिन पूर्व एक छोटी दीपावली नरकासुर पर भगवान कृष्ण की विजय की स्मृति में मनायी जाती है एवं कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को नरकासुर के नाम पर 'नरक चतुर्दशी' भी कहा जाता है।

अध्याय-दो

भगवान कृष्ण का स्वर्गलोक के अधिपति महाराज इन्द्र के साथ युद्ध :

अध्याय एक में हम नरकासुर के साथ भगवान कृष्ण के युद्ध की चर्चा संक्षेप में कर चुके है। अब हम स्वयं स्वर्ग लोक के अधिपति महाराज इन्द्र के साथ भगवान कृष्ण के युद्ध की चर्चा करेंगे।

नरकासुर के वध के पश्चात् भगवान् कृष्ण ने भारत के राजाओं-महाराजाओं को नरकासुर द्वारा लूटी हुई उनकी बहुमूल्य वस्तुओं को उन्हें लौटवाना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु देवताओं की माता अदिति का कुण्डल जो स्वर्गलोक का सबसे बहुमूल्य पदार्थ था और जिसे नरकासुर हर ले गया था, उसे स्वयं भगवान् कृष्ण अपने हाथों लौटाने के लिए महाराज इन्द्र की राजधानी अलकापुरी में पधारे। अलकापुरी में भगवान कृष्ण और उनके साथ ही गयी हुई उनकी धर्मपत्नी सत्यभामा का इन्द्र ने भव्य स्वागत किया और उनके प्रति अपना बड़ा आभार प्रकट किया। वरुण देवता ने भी भगवान् कृष्ण के प्रति बड़ा आभार प्रकट किया, क्योंकि नरकासुर द्वारा वरुण के हरे छत्र एवं चामर को भी भगवान् कृष्ण लौटाने के लिए अलकापुरी ले गये थे। अमरावती के लोग अपने को देवता मानते थे अर्थात् भारत के इतर प्रदेशों में बसने वाले लोगों से अपने को उच्चकोटि का मानते थे। इसी से इन्द्राणी ने सत्यभामा का स्वागत करते हुए उन्हें पारिजात का पुष्प भेंट नहीं किया जबकि स्वयं उन्होंने अपने जूड़े में एक पारिजात पुष्प धारण कर रखा था। सत्यभामा ने भगवान् कृष्ण से इस बात का परिवाद किया।

जब भगवान् कृष्ण सत्यभामा के साथ इन्द्र की वाटिका में घूमने गये और वहाँ उन्होंने बहुत से पारिजात के फूलों से लदे हुए वृक्ष देखे तो उन्होंने एक पारिजात वृक्ष को समूल उखड़वा लिया और उसे अपनी राजधानी द्वारकापुरी ले जाने के लिए अपने रथ पर रख लिया। इस पर इन्द्र की वाटिका के रखवालों ने भगवान् कृष्ण से कहा, "पारिजात का वृक्ष अमरावती से बाहर नहीं ले जाया जा सकता है; अतः हम लोग इसे आपको अमरावती से बाहर नहीं ले जाने दे सकते। भगवान् के न मानने पर रखवालों ने इन्द्र से परिवाद किया। फलतः इन्द्र और उनके साथ वरुण देव जैसे कुछ देवता भी भगवान् कृष्ण से युद्ध के लिए उद्यत हो गये। बात बहुत बढ़ गयी। परिणामतः भगवान कृष्ण के साथ नरकासुर से लड़ने के लिए जो भगवान् के पुत्र प्रद्युम्न, उनके सेनाध्यक्ष के भाई सात्यकि तथा अन्य बड़े सेनानी आये थे, सबके सब अपनी सेनाओं के साथ महाराज इन्द्र और उनके देवताओं के साथ युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। भगवान् ने हँसते-हँसते इन्द्र को उनके देवताओं के साथ बुरे प्रकार से पराजित कर दिया। अन्त में स्वर्गलोक के अधिपति ने भगवान् कृष्ण से क्षमा याचना की और पारिजात वृक्ष को द्वारिका ले जाने में उनकी सहायता की।

(75) स्वर्गाधिपति इन्द्र के साथ भगवान कृष्ण का युद्ध इसलिए उस युग में महत्त्वपूर्ण समझा जाता था कि उस युग में स्वयं स्वर्गलोक के अधिपति के साथ युद्ध करने की बात तो दूर, वरन् ऐसा करना कोई सोच भी नहीं सकता था। स्वर्गलोक उस युग में आर्यो का एक संरक्षित राज्य माना जाता था, जिसका अर्थ यह था कि यदि कोई नरेश स्वर्ग लोक पर आक्रमण करता तो भारत के सभी राजे–महाराजे उसके विरुद्ध महाराज इन्द्र की सहायता करने के लिए धर्मतः बाध्य थे। किन्तु जब भारत के राजाओं–महाराजाओं ने यह सुना कि स्वर्ग के अधिपति से स्वयं भगवान् कृष्ण युद्ध कर रहे हैं एवं उन्होंने उस युद्ध का कारण भी जान लिया तो राजाओं–महाराजाओं को भगवान् कृष्ण के विरुद्ध इन्द्र की सहायता करने का साहस ही नहीं हुआ।

अब प्रायः समस्त भारतीयों ने निश्चित प्रकार से यह मान लिया कि स्वयं स्वर्गाधिपति महाराज इन्द्र को युद्ध में पराजित करने वाले भगवान कृष्ण एक अवतारिक महापुरुष ही हैं।

स्कन्ध–सात 'ग'

"भगवान कृष्ण का एक आदर्श सुखी गृहस्थ का जीवन"

प्राक्कथन :

स्कन्ध सात में बतलाया जा चुका है कि प्राग्यज्योतिषपुर के नरेश नरकासुर (भौमासुर) को मारकर उसकी लूट से भगवान् कृष्ण ने भारत के सभी राजाओं–महाराजाओं की रक्षा की। अब भौमासुर भारत के राजाओं–महाराजाओं की जो बहुमूल्य वस्तुएँ लूट ले गया था, उन्हें भगवान् कृष्ण ने उनके स्वामी राजाओं–महाराजाओं को लौटवाना प्रारम्भ कर दिया।

भौमासुर जो देवताओं की माता अदिति का बहुमूल्य कुण्डल स्वर्गलोक (आधुनिक भारत के उत्तर प्रदेश का उत्तराखण्ड) से लूटकर लाया था और जिसका मूल्य कई राज्यों के बराबर था उसे भगवान कृष्ण स्वयं अपने हाथों से लौटाने के लिए अमरावती ले गये।

अमरावती में भगवान् कृष्ण का देवताओं सहित महाराज इन्द्र ने बड़ा भव्य स्वागत किया। किन्तु जब भगवान कृष्ण अमरावती से एक पारिजात वृक्ष को समूल उखाड़कर उसे द्वारका ले जाने लगे, तो इस प्रसंग में देवताओं और भगवान् कृष्ण के बीच युद्ध हो गया। अन्त में देवता और इन्द्र बुरे प्रकार से पराजित हुए और उन्होंने भगवान् कृष्ण से क्षमा याचना की तथा पारिजात वृक्ष के द्वारकापुरी ले जाने में उनकी सहायता की।

अब भारत के लोगों को ये सारी बातें ज्ञात हुई एवं उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि भगवान् कृष्ण ने देवताओं सहित इन्द्र को भी युद्ध में पराजित कर दिया, तो उन्होंने भगवान् कृष्ण को निश्चित प्रकार से अवतार मानना प्रारम्भ कर दिया।

अब भगवान् कृष्ण ने भौमासुर की सोलह सहस्र एक सौ सुन्दर युवतियों और अपनी पहले की आठ पटरानियों के साथ पति के रूप में एक आदर्श सुखी गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया अपने पुत्रों पौत्रों के विवाहोत्सव भी रचाने लगे।

किन्तु भगवान् कृष्ण अपनी इन व्यस्तताओं में इन्द्रप्रस्थ में राज्य करते हुए पाण्डवों का भी बराबर कुशल समाचार लेते रहे और एतदर्थ इन्द्रप्रस्थ बराबर आते-जाते रहे।

श्री प्रद्युम्न का रुक्मवती के साथ विवाह :

भगवान कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के विवाह के प्रसंग में उनसे पराजित होकर रुक्मी इतना लज्जित हुआ था कि उसने तब से अपनी राजधानी कुण्डिनपुर में प्रवेश ही नहीं किया और नगर के बाहर ही "भोजकट" नामक एक नया नगर बसाकर उसी में रहने लगा था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि, "मै अवसर पाते ही श्रीकृष्ण का वध अवश्य करूँगा। एतदर्थ पहले उसने भगवान कृष्ण के ज्येष्ठ पुत्र का अपनी पुत्री रुक्मवती के साथ विवाह करने के लिए स्वयंवर का आयोजन किया। उसकी योजना थी कि, "जब भगवान कृष्ण प्रद्युम्न के विवाह के प्रसंग में मेरी राजधानी "भोजकट" में पधारेंगे तो मैं अवसर पाकर उनका वध कर दूँगा। किन्तु जब भगवान् कृष्ण "भोजकट" पधारे ही नहीं तो भगवान् कृष्ण के बड़े भाई बलराम जी ने ही प्रद्युम्न का विवाह रुक्मवती के साथ सम्पन्न कराया।

प्रद्युम्न का रुक्मवती के साथ यह दूसरा विवाह था जैसा कि स्कन्ध पाँच के अध्याय दो में "रूक्मिणी से विवाह के पश्चात्" शीर्षक के नीचे बतलाया जा चुका है, प्रद्युम्न का माया के साथ पहले विवाह हो ही चुका था।

रोचना के साथ अनिरुद्ध का विवाह :

जब रुक्मवती के साथ श्री प्रद्युम्न के विवाह में भगवान कृष्ण "भोजकट नगर" नहीं आये, तो रुक्मी ने अपनी पौत्री रोचना के साथ भगवान कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के विवाह का भी उपक्रम रचाया । रुक्मी सोच रहा था कि अपने पुत्र के विवाह में तो श्रीकृष्ण भोजकट पधारे ही नहीं, किन्तु संभवतः अपने पौत्र श्री अनिरुद्ध के विवाह में तो वे अवश्य पधारेंगे ही और तब मैं अवसर पाकर उनका वध कर दूँगा, किन्तु अनिरुद्ध के साथ रोचना के विवाह में भी भगवान कृष्ण भोजकट नहीं पधारे। श्री बलराम जी ने ही अनिरुद्ध के साथ रोचना का विवाह भी सम्पन्न कराया।

रुक्मी का वध :

श्री अनिरुद्ध के साथ रुक्मी की पौत्री रोचना के विवाह के प्रसंग में उल्लेखनीय बात यह हुई, "विवाह हो जाने के पश्चात् जनवासे के दिन जब बलराम जी के साथ रूक्मी द्यूत क्रीड़ा करने के लिए बैठा तो उसने तथा उसके साथी कलिंग नरेश ने बलराम जी का "अहीर" कहकर परिहास किया। इस पर बलराम ने क्रुद्ध होकर लौहदण्ड के एक ही प्रहार से रुक्मी को मार डाला और कलिंग नरेश के मुख पर एक ऐसी चपेटिका मारी

(77)

कि उसके सब दाँत टूट गये।

जब भगवान् कृष्ण को रुक्मी के वध का समाचार मिला तो वे मन में बहुत प्रसन्न हुए, फिर भी उन्होंने ऊपर से उसके लिए दुःख प्रकट किया।

भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का वाणासुर की पुत्री ऊषा से विवाह :

अब प्रद्युम्न के पुत्र अर्थात् भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ वाणासुर की पुत्री ऊषा के विवाह की कथा सुनिए

श्री अनिरुद्ध का प्रथम विवाह 'भोजकट' के नरेश महाराज रुक्मी की पौत्री 'रोचना' के साथ हुआ था, जैसा कि हम ऊपर "अनिरुद्ध के साथ रोचना का विवाह" शीर्षक के नीचे बतला चुके हैं।

एक दिन आखेट के प्रसंग में घूमते हुए श्री अनिरूद्ध को वाणासुर की पुत्री ऊषा ने देख लिया। ऊषा अनिरुद्ध के सौन्दर्य पर मोहित हो गयी और उन्हें अपनी दासियों द्वारा अपने महालय (महल) में बुलवा लिया तथा उनसे गुप्त प्रकार से विवाह कर लिया। जब वाणासुर को ऊषा से अनिरुद्ध के सम्पर्क की बात ज्ञात हुई तो उसने उन्हें अपने महालय (महल) में ही बन्दी बना लिया।

यह वाणासुर था कौन ?

वाणासुर के विषय में हम पाठकों को स्वल्प में बतला देना उचित समझते हैं।

कृष्णकालीन पश्चिम भारत में जो शोणितपुर और कुण्डिनपुर आदि के राज्य थे, उनमें शोणितपुर सबसे बड़ा था। पुराणों के अनुसार त्रेतायुग में दैत्य राज बलि और भगवान वामन के बीच एक अति प्रसिद्ध सन्धि हुई थी, जो बलि-वामन सन्धि के नाम से प्रख्यात थी। इस सन्धि के सन्धान के अनुसार दैत्यों को "साप्त सैन्धव देश" छोड़कर उसके दक्षिण में स्थित सुतललोक में जाना पड़ा था।

तदनुसार ही दैत्यों ने सुतललोक का नाम शोणितपुर रखकर उसमें एक बड़े विशाल दैत्य राज्य की स्थापना कर डाली थी और तभी से शोणितपुर का राज्य फूल-फल रहा था एवं सभ्य तो था ही। भगवान् कृष्णकालीन शोणितपुर के नरेश का नाम वाणासुर था, जो भगवान् शिव का परम भक्त था। वाणासुर अपने को संसार में सबसे बलिष्ट समझता था और युद्ध के लिए उसकी भुजाएँ सदैव खुजलाती रहती थीं। पुराणों के अनुसार तो एक बार उसने स्वयं भगवान् शिव से कहा था कि, "भगवन् ! मेरा मन किसी से युद्ध करने को कहता है, किन्तु मुझे आपके अतिरिक्त संसार में कोई भी अपने बराबर बलशाली नहीं प्रतीत होता है। अतः मेरा मन होता है कि यदि आप स्वयं अपने साथ मुझे एक बार युद्ध करने का अवसर दे देते तो आपका परम अनुग्रह होता, इस पर शिव जी ने हँसते हुए कहा था, धैर्य धर, शीघ्र ही मेरे समान ही एक महापुरुष से तुझे लड़ने का अवसर मिल जायेगा।"

वाणासुर के साथ भगवान कृष्ण का युद्ध :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जब अनिरुद्ध को वाणासुर ने अपने महालय में बन्दी बना लिया, तब द्वारकापुरी के यादवों को अनिरुद्ध को वाणासुर से मुक्त कराने के लिए शोणितपुर आना ही पड़ा। शोणितपुर में वाणासुर के सैनिकों के साथ यादवों का भीषण युद्ध हुआ और अन्त में स्वयं भगवान् कृष्ण को वाणासुर के साथ युद्ध करना पड़ा। भगवान् कृष्ण से पूर्णतया पराजित होकर वाणासुर ने ऊषा का विवाह श्री अनिरुद्ध के साथ कर दिया और शोणितपुर द्वारका साम्राज्य का एक सामन्त राज्य बन गया।

भगवान कृष्ण की दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण विजय :

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शोणितपुर का राज्य पश्चिम भारत का सबसे बड़ा दैत्य राज्य माना जाता था। इस राज्य का निर्माण त्रेतायुग में ही हो गया था और तब से यह बराबर फूल-फल रहा था। दक्षिण और पश्चिम भारत का कोई भी नरेश वाणासुर से युद्ध करने की बात सोच भी नहीं सकता था। इतने बड़े राज्य पर भगवान कृष्ण की विजय भौमासुर पर उनके विजय के पश्चात् यह दूसरी सबसे बड़ी विजय थी।

शोणित के द्वारका राज्य का एक सामन्त राज्य बन जाने के पश्चात् अब द्वारका का यादव संघ राज्य भारतवर्ष के बलिष्टतम राज्यों में गिना जाने लगा।

भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ लक्ष्मणा का विवाह :

दुर्योधन ने अपनी पुत्री लक्ष्मणा के स्वयंवर का आयोजन किया। किन्तु भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब ने स्वयंवर के अवसर पर ही लक्ष्मणा को हर लिया और उसे लेकर द्वारकापुरी भागने लगे। इससे कौरव बहुत कुपित हुए और उन्होंने साम्ब का पीछा किया। यद्यपि साम्ब बड़ी वीरता से लड़े, किन्तु अन्त में कौरवों ने उन्हें बन्दी बना लिया।

अब कौरवों और यादवों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी, किन्तु बलराम जी ने बीच-बचाव करके शान्ति स्थापित कर दी। बात यह थी कि बलराम जी ने दुर्योधन को गदायुद्ध की शिक्षा दी थी, जिससे दुर्योधन उन्हें अपना गुरु मानता था। श्री बलराम जी ने अण्ने इसी प्रभाव का प्रयोग किया अन्त में लक्ष्मणा का विवाह साम्ब के साथ हो गया। अब कौरवों एवं यादवों के बीच युद्ध होना मनोज्ञ नहीं था। अतः उन्होंने युद्ध को रोकने का निश्चय किया, एतदर्थ वे अकेले ही हस्तिनापुर पहुँचे। श्री बलराम जी ने ही दुर्योधन को गदायुद्ध की शिक्षा दी थी, अतः वे एक प्रकार से दुर्योधन के गुरु थे। इसी से कौरव बलराम जी का बड़ा सम्मान करते थे। श्री बलराम जी ने अपने प्रभाव का प्रयोग किया और कौरवों तथा यादवों को समझा-बुझाकर दोनों के बीच में युद्ध होना रोक दिया। अन्त में श्री साम्ब का लक्ष्मणा से विवाह हो गया और वे श्री बलराम जी की छत्रछाया में लक्ष्मणा के साथ द्वारकापुरी को लौट गये।

स्कन्ध 'आठ'

प्राक्कथन :

स्कन्ध छः में कौरवों और पाण्डवों के विषय में बतलाते हुए कहा गया है कि कौरव अन्यायी एवं अत्याचारी थे, जबकि पाण्डव न्यायी, सत्याचारी तथा धर्मभीरु थे। इन्हीं गुणों के कारण पाण्डव भगवान कृष्ण के प्रिय बन गये । फलतः भगवान कृष्ण ने पाण्डवों को भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट बना दिया, जैसा कि स्कन्ध दस के प्रथम अध्याय में बतलाया गया है।

इस स्कन्ध में बतलाया गया है कि किस प्रकार पहले भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सम्राट बनाया किन्तु पश्चात् स्कन्ध दस के ही अध्याय दो में बतलाया गया है कि किस प्रकार एक दुष्ट षड्यन्त्र द्वारा कौरवों ने पाण्डवों को बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के गुप्त वनवास का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश कर दिया?

अब पाण्डव तेरह वर्षों के लिए वनवासी बन गये। इस अवधि में भगवान कृष्ण पाण्डवों की बराबर सहायता करते रहे। पाण्डवों के तेरह वर्षों के वनवास की अवधि पूर्ण कर लेने के पश्चात् जब भगवान् कृष्ण ने पाण्डवों की ओर से धृतराष्ट्र और दुर्योधन से उनका आधा राज्य लौटा देने को कहा और कौरव-पाण्डवों का उनका आधा राज्य लौटाने के स्थान में कौरव उनसे युद्ध करने को उद्यत हो गये, तो भगवान् कृष्ण ने अपने कौशल से पाण्डवों को विजय दिलवायी। भगवान् कृष्ण ने पाण्डवों को कैसे अपने कौशल से महाभारत युद्ध में विजयी बनाया यह बात स्कन्ध बारह के पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है।

अध्याय-एक

भगवान कृष्ण का महाराज युधिष्ठिर को भारतवर्ष का सम्राट बनाना :

भगवान कृष्ण के पुत्रों और पौत्रों के विवाहों का क्रम चल ही रहा था, तभी भगवान कृष्ण की सेवा में इन्द्रप्रस्थ के नरेश महाराज युधिष्ठिर का दूत एवं जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाकर कारागार में रखे हुए छियासी नरेशों का भी दूत दोनों साथ ही द्वारका पहुँचे।

जब ये दोनों दूत भगवान कृष्ण के पास द्वारका में पहुँचे, तो उस समय भगवान कृष्ण भौमासुर एवं स्वर्गलोक के अधिपति महाराज इन्द्र को पराजित करके द्वारका में अपनी सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियों के साथ एक सुखी गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर रहे थे और साथ ही अपने पुत्रों एवं पौत्रों के विवाहों में भी संलग्न थे, जैसा कि अध्याय एक में बतलाया जा चुका है।

उपर्युक्त दोनों दूतों में से महाराज युधिष्ठिर के दूत ने भगवान कृष्ण से यह प्रार्थना की थी कि ''महाराज युधिष्ठिर आपका दर्शन करके आपसे कोई महत्त्वपूर्ण परामर्श करना चाहते हैं। अतः आप बतलायें कि एतदर्थ उनका आपकी सेवा में कब उपस्थित होना उचित होगा?

भगवान् कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान :

भगवान् कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर के दूत से उनकी प्रार्थना जानकर उनसे स्वयं (80)
मिलना उचित समझा और वे उपर्युक्त दोनों दूतों की द्वारका से विदायी के अनन्तर ही तुरन्त द्वारका से इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थित हो गये।

राजसूय यज्ञ के लिए सहमति और जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध का निश्चय

इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर महाराज युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ के विषय में अपने विचार जानने की प्रार्थना सुनकर तुरन्त भगवान कृष्ण ने यज्ञ के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी, क्योंकि वे तो महाराज युधिष्ठिर को भारत का सम्राट बनाना ही चाहते थे।

भगवान् कृष्ण का जरासन्ध के विषय में वक्तव्य :

किन्तु भगवान् कृष्ण ने कहा राजसूय यज्ञ करने वाले नरेश के लिए दिग्विजय में मुझे सबसे बड़ा बाधक जरासन्ध ही दीख पड़ता है। जरासन्ध एक बड़ा अत्याचारी, किन्तु साथ ही बड़ा बलिष्ट नरेश है। आजकल भारतवर्ष के आधे से अधिक सभी छोटे, वरन् बड़े नरेश भी उससे डरते हैं और बराबर उसकी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। यदि आप जरासन्ध को पराजित कर सके तो आप बिना किसी प्रकार की रुकावट के राजसूय यज्ञ पूर्ण कर सकते हैं। अतः आपको सबसे पहले जरासन्ध के साथ ही युद्ध करना चाहिए, किन्तु जरासन्ध की महती सैनिक शक्ति को देखते हुए मेरा तो विचार यही है कि उसके साथ सैनिक युद्ध न करके उसे "द्वन्द्व युद्ध" के लिए ललकारना अधिक उपयुक्त होगा।

उस युग में नियम था कि समान कुल और शील वाला एक नरेश दूसरे नरेश को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकार सकता था और उसको पराजित करके उसके उत्तराधिकारी को अपना सामन्त बनने के लिए विवश कर सकता था।

जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध और उसका वध :

भगवान कृष्ण के परामर्शानुसार अर्जुन और भीम उनके साथ मगध देश की राजधानी गिरिव्रज में ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के वेश में प्रविष्ट हुए और जरासन्ध को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारा। अन्ततोगत्वा भीम ने जरासन्ध से द्वन्द्व युद्ध करके उसे मार डाला।

जरासन्ध के वध के पश्चात भगवान् कृष्ण ने उसके पुत्र सहदेव को मगध देश का नरेश मान लिया और उसने महाराज युधिष्ठिर का सामन्त नरेश बनकर रहना स्वीकार कर लिया।

अब भगवान् कृष्ण ने इन छियासी नरेशों को भी जरासन्ध के कारागार से मुक्त करा दिया, जिन्होंने अपनी मुक्ति के लिए भगवान् कृष्ण के पास द्वारका में एक दूत भेजा था।

जरासन्ध के कारागार से मुक्त हुए इन छियासी नरेशों ने बड़े उत्साह एवं लगन के

साथ समस्त भारत में घूम-घूमकर भगवान् कृष्ण एवं महाराज युधिष्ठिर की न्यायप्रियता एवं सत्यशीलता का प्रचार करना प्रारम्भ किया। भारतवर्ष के नरेश जरासन्ध के वध के पश्चात भगवान् कृष्ण एवं महाराज युधिष्ठिर से लड़ने का विचार छोड़ चुके थे और जब उपर्युक्त छियासी नरेशों ने भारत वर्ष के नरेशों को भगवान् कृष्ण एवं महाराज युधिष्ठिर की न्यायप्रियता एवं सत्यशीलता के विषय में समझाया, तो भारत के समस्त नरेश अनायास ही बिना लड़े-भिड़े महाराज युधिष्ठिर को भारत का सम्राट मानने के लिए उद्यत हो गये।

राजसूय यज्ञ की दीक्षा :

दिग्विजय के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ली। भारतवर्ष के प्रायः सभी छोटे बड़े नरेश एवं महापुरुष महाराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ में पधारे । कौरवों के सम्राट महाराज धृतराष्ट्र, उनका पुत्र दुर्योधन, कौरवों में सबसे वृद्ध भीष्म पितामह, महात्मा विदुर जैसे नीतिज्ञ शस्त्र एवं शास्त्र दोनों विधाओं में पारंगत महाराज द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे विद्वान एवं महापुरुष इस यज्ञ के अवसर पर उपस्थित थे।

भगवान् कृष्ण की अग्रपूजा एवं शिशुपाल का वध :

यज्ञ के अवसर पर सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि, इस समय भारत वर्ष में कौन ऐसा महापुरुष है जो सभी नरेशों एवं महापुरुषों में अग्रगण्य है, जिसकी सबसे पहले पूजा की जाये? यज्ञ के अवसर पर उपस्थित सभी महापुरुषों एवं नरेशों ने एक स्वर से कहा, "भगवान कृष्ण ही न्यायप्रियता, सत्यशीलता एवं वीरता की दृष्टि से सभी नरेशों एवं महापुरुषों में अग्रगण्य है, अतः उन्हीं की अग्रपूजा की जानी चाहिए।

यद्यपि भारतवर्ष के सभी नरेशों एवं महापुरुषों ने भगवान् कृष्ण को ही अग्रपूजा का अधिकारी बतलाया, किन्तु यज्ञ के अवसर पर शिशुपाल ने भगवान् कृष्ण की अग्रपूजा का प्रबल विरोध किया। विरोध ही नहीं, वरन् वह दुष्ट भरी सभा में भगवान् कृष्ण को गालियाँ तक देने लगा।

भगवान् कृष्ण ने शिशुपाल की सौ गालियाँ तक चुपचाप सहन कर ली, किन्तु जब उसने एक सौ एकवीं गाली देने के लिए मुँह खोला, तब भगवान् कृष्ण ने चक्र सुदर्शन से उसका सिर काट दिया। उस पर सभा में हाहाकार होने लगा। उस सभा में शिशुपाल का पुत्र धृष्टकेतू भी उपस्थित था। उसने तुरन्त सभा में उठकर अपने पिता के दुष्कृत्यों के लिए सभी लोगों से क्षमा याचना की। इस पर सारी बातें वहीं शान्त हो गयीं और धृष्टकेतु शिशुपाल के स्थान में वही नरेश मान लिया गया।

अब महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त हो गया और वे नियमतः भारतवर्ष के चक्रवर्ती सम्राट घोषित कर दिये गये।

अध्याय-दो

''कौरवों का दुष्ट षड्यन्त्र और भगवान् कृष्ण :

यह अध्याय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें बतलाया गया है कि धृतराष्ट्र उसके पुत्र दुर्योधन और दुर्योधन के दुष्ट साथी कर्ण, शकुनि आदि कितनी नीचता कर सकते थे। उन्होंने महाराज्ञी द्रौपदी को सहस्रों नरेशों और बड़े-बड़े प्रतिष्ठित बूढ़ों से भरी सभा में नग्न करने तक का उपक्रम रचा था, बतलाया गया है कि कैसे भगवान् कृष्ण ने ऐसी विकट अवस्था में द्रौपदी की लज्जा की रक्षा करके वह कर्म किया, जिसका यशोगान आज भी हिन्दू लोग घर-घर में करते हैं।

कौरवों का दुष्ट षड्यन्त्र एवं पाण्डवों को वनवास :

महाराज युधिष्ठिर भारतवर्ष के सम्राट घोषित हो गये। उसके पश्चात् से ही पाण्डवों के विरुद्ध कौरवों का दुष्ट षड्यन्त्र प्रारम्भ हो गया, जिसकी परिणति एक ऐसी घटना में हुई, जो इतिहास की सबसे निम्न कोटि की दुष्ट घटना कही जा सकती है और जैसी घटना की बात न पहले कभी सुनी गयी थी और न जैसी आगे घटित हुई। हम इस पर कुछ विस्तार से नीचे प्रकाश डाल रहे हैं–

सम्राट के रूप में युधिष्ठिर के वैभवों को देखकर धृतराष्ट्र और दुर्योधन दोनों अत्याधिक जलने लगे। दुर्योधन तो स्पष्ट शब्दों में घोषित करने लगा, ''मैं युधिष्ठिर के इन वैभवों को देखते हुए जीवित नहीं रह सकता, वरन् मुझे तो अब मृत्यु ही श्रेयष्कर जान पड़ती है।'' दुर्योधन के साथी शकुनि, कर्ण और अश्वत्थामा आदि भी उससे कुछ घटकर नीच नहीं थे। अब सबने पाण्डवों के अपमान एवं विनाश के लिए षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ किया।

सहसा उन्हें एक उपाय सूझ पड़ा। युधिष्ठिर और उनके चारों भाई बड़े ही धर्मभीरु थे। वे जिस बात को धर्म मान लेते थे, उसके लिए अपना सब कुछ बलि कर देने के लिए उद्यत रहते थे। युधिष्ठिर के चारों भाई भी उनकी आज्ञा के सर्वथा अनुवर्ती रहते थे और उनके निर्णय का वे किसी भी रूप में विरोध नहीं करते थे, भले ही उनका वह निर्णय मानने योग्य न हो। दुर्योधन ने युधिष्ठिर की इस धार्मिक भीरुता का लाभ उठाया।

युधिष्ठिर का मानना था कि धृतराष्ट्र प्रभृति अपने से बड़े-बूढ़ों की आज्ञा माननी ही चाहिए, भले ही वह आज्ञा कितनी ही कुटिलता से युक्त क्यों न हो और एतदर्थ वे अपना जीवन तक दे देने के लिए उद्यत रहते थे।

अब दुर्योधन ने सोचा, यदि मैं अपने पिता (धृतराष्ट्र) से युधिष्ठिर को द्यूत खेलने का आदेश दिलवा दूँ और वह भी मेरे शकुनि जैसे धूर्त साथियों के साथ, तो मेरे धूर्त साथी युधिष्ठिर का सब कुछ जीत लेंगे और फिर तो मैं युधिष्ठिर को अपना दास बना ही लूँगा।''

(83)

बस, दुर्योधन ने अपने पिता सम्राट धृतराष्ट्र पर अपना मन्तव्य प्रकट किया और धृतराष्ट्र तुरन्त इस बात के लिए उद्यत हो गये कि, मैं युधिष्ठिर से द्यूत खेलवाकर ही रहूँगा।"

दुर्योधन द्वारा द्यूत सभा का आयोजन :

अब दुर्योधन ने अपने काल की सबसे बड़ी घूत-क्रीड़ा का आयोजन किया। बड़ी विशाल द्यूत सभा आयोजित की गयी। दुर्योधन के एक सहस्र सामन्त नरेश उस सभा में पधारे। भारतवर्ष के सभी छोटे-बड़े नरेश भी द्यूतसभा में उपस्थित हुए एवं भीष्म पितामह जैसे वृद्ध, महात्मा विदुर जैसे धर्मात्मा, द्रोणाचार्य जैसे शस्त्र और शास्त्र विद्याओं में निष्णांत तथा कृपाचार्य जैसे धनुर्धर आदि तो द्यूतसभा में उपस्थित थे ही।

महान दुःसंयोग : (द्यूतसभा में भगवान् कृष्ण का न पधारना)

पूछा जा सकता है कि जब दुर्योधन द्वारा आयोजित महान् द्यूतसभा में भारत के प्रायः सभी नरेश सम्मिलित हुए, उस समय भगवान् कृष्ण कहाँ थे? "क्या वे ऐसी द्यूतसभा में उपस्थित नहीं हुए? हम इसी बात पर नीचे प्रकाश डाल रहे हैं।

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन द्वारा आयोजित की जाने वाली महती द्यूतसभा का समाचार सुना, किन्तु वे उसमें पधारे नहीं। इसका कारण एक महान् दुःसंयोग ही था। भगवान् कृष्ण ने जब द्यूतसभा के आयोजन का समाचार सुना उसी समय उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि कौरव लोग पाण्डवों के विरुद्ध कोई बड़ा दुष्ट षड्यन्त्र रच रहे हैं। किन्तु यह बड़ा भारी दुःसंयोग ही था कि ठीक उसी समय शाल्व देश के अति बलिष्ट नरेश ने, जो अनार्य मूल का था और जिसे शाल्व ही कहा भी जाता था, द्वारका पर आक्रमण कर दिया था।

(शाल्व के विषय में तथा उसके एक वैसे ही बलिष्ट साथी दन्तवक्र के विषय में पाठक आगे अध्याय तीन में "द्वारका साम्राज्य की सुरक्षा" शीर्षक के नीचे पढ़ेंगे।)

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है भगवान् कृष्ण दुर्योधन की द्यूतसभा की घोषणा का समाचार सुनकर हस्तिनापुर अवश्य आते, किन्तु द्वारकापुरी पर शाल्व के आक्रमण के कारण वे ऐसा करने में असमर्थ थे, किन्तु जब भगवान् कृष्ण को ज्ञात हुआ कि द्यूतसभा में कुटिल एवं नीच कौरव महाराज्ञी द्रौपदी को नग्न तक करने का उपक्रम रच रहे हैं तो वे शाल्व द्वारा घेरी हुई द्वारकापुरी की रक्षा का भार अपने भाई श्री बलराम और अपने पुत्र प्रद्युम्न पर छोड़कर द्वारका पुरी से दौड़ते हुए अति तीव्रगामी रथ द्वारा हस्तिनापुर पहुँचे और ठीक उसी समय पहुँचे, जब दुर्योधन का छोटा भाई दुःशासन उसके आदेश पर द्रौपदी को रनिवास में से उसका केश पकड़कर घसीटते हुए द्यूतसभा में लाया था और रोती हुई द्रौपदी को सहस्रों नरेशों से भरी हुई सभा के बीच खड़ी करके उसे नग्न करने जा रहा था एवं एतदर्थ उसने उसकी साड़ी को खींचने के लिए उस पर हाथ भी रख दिया था। बात यह थी कि धृतराष्ट्र के आदेश पर महाराज युधिष्ठिर अपनी इच्छा के विरुद्ध शकुनि

आदि के साथ द्यूत क्रीड़ा के लिए विवश किये गये। वे न केवल अपना इन्द्रप्रस्थ का समस्त राज्य ही, वरन् द्रौपदी सहित अपने और अपने चारों भाइयों को भी द्यूत में हार चुके थे और दुर्योधन के दास हो चुके थे। इसी से दुःशासन ने द्रौपदी को अपनी दासी मानकर पाण्डवों को अति अपमानित करने के लिए सहस्र नरेशों से भरी सभा में नग्न करने जा रहा था।

द्यूतसभा में घुसते ही भगवान् कृष्ण ने अपना तेजोमय रूप प्रकट किया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि जैसे ही दुःशासन द्रौपदी की साड़ी को पकड़कर उसे नग्न करने के लिए साड़ी को झटका देने ही वाला था, वैसे ही भगवान् कृष्ण द्यूतसभा में उपस्थित हो गये। भगवान् कृष्ण ने तुरन्त अपना तेजोमय रूप प्रकट किया और अपने सुदर्शन चक्र को घुमाते हुए द्यूतसभा में उपस्थित हुए सहस्रों नरेशों तथा भीष्म पितामह, महात्मा विदुर एवं द्रोणाचार्य आदि को धिक्कारते हुए गर्जना की कि, बस-बस दुःशासन अब यदि तूने द्रौपदी को नग्न करने के लिए उसकी साड़ी को एक भी झटका दिया तो तेरा शिर धड़ से अलग होकर भूमि पर नाचने लगेगा। इस पर दुःशासन इतना भयभीत हो गया कि उसके द्रौपदी की साड़ी पकड़े हुए हाथ थर-थर कांपने लगे एवं घण्टों काँपते ही रहे, किन्तु द्रौपदी की साड़ी खिंच न सकी और वह नग्न नहीं हो सकी।

धृतराष्ट्र को सद्बुद्धि :

भगवान् कृष्ण की उपर्युक्त प्रकार की धमकी का द्यूतसभा में उपस्थित सभासदों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि महाराज धृतराष्ट्र ने तुरन्त भगवान् कृष्ण के समक्ष द्रौपदी सहित पाण्डवों को दुर्योधन के दासत्व से मुक्त कर दिया तथा पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का राज्य उन्हें तुरन्त लौटा दिया तथा पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा दे दी। भगवान् कृष्ण शीघ्रता में तो थे ही अतः वे हस्तिनापुर में रुक नहीं सके और उल्टे पाँव द्वारकापुरी को प्रस्थित हो गये।

पुनः द्यूत क्रीड़ा :

जब भगवान् कृष्ण द्वारकापुरी को लौट गये, तब दुर्योधन और शकुनि आदि का दुष्ट उपवेशन पुनः प्रारम्भ हुआ। दुर्योधन ने कहा श्रीकृष्ण ने तो हमारा समस्त बना बनाया खेल ही बिगाड़ दिया। अब हम क्या करें?" अन्त में शकुनि, कर्ण आदि के परामर्श से दुर्योधन ने निश्चय किया कि, क्यों न एक बार पुनः धर्मभीरु युधिष्ठिर को शकुनि आदि के साथ पिताजी से कहकर मैं द्यूत क्रीड़ा के लिए आदेश दिलवाऊँ और अबकी बार सारी बातें शीघ्रता से की जाये कि श्रीकृष्ण के पुनः हस्तिनापुर पहुँचने तक पाण्डवों को वनवासी बना दिया जाये।

ऐसा सोचकर दुर्योधन ने पुनः धृतराष्ट्र के पास जाकर उनसे निवेदन किया, पिता जी श्रीकृष्ण ने तो हमारा सारा बना बनाया खेल ही बिगाड़ दिया। अब युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ के

लिए प्रस्थित हो चुके हैं, अभी वे मार्ग ही में होंगे, क्यों न आप उन्हें मार्ग ही में से पुनः बुलवा लें और उन्हें शकुनि आदि के साथ पुनः द्यूत क्रीड़ा का आदेश दें। आपके आदेश पर युधिष्ठिर अवश्य द्यूत क्रीड़ा के लिए तैयार हो जायेंगे ही। अबकी बार द्यूत क्रीड़ा में यह सन्धा रखी जायेगी कि "द्यूत क्रीड़ा में जो पक्ष हार जायेगा, उसे तुरन्त वन चला जाना पड़ेगा और बारह वर्ष के वनवास का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा तथा तदनन्तर एक वर्ष के गुप्त वनवास का भी जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। "सन्धा में आगे यह भी कहा गया था कि गुप्त वनवास के दिनों में यदि गुप्त वनवासी पहचान लिये जायेंगे तो उन्हें पुनः बारह वर्ष के वनवास एवं एक वर्ष के गुप्त वनवास का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा।"

धृतराष्ट्र तो सारी दुष्टता की बातें करने के लिए तैयार ही बैठे थे। उन्होंने तुरन्त एक दूत तीव्रगामी रथ से पाण्डवों के पास भेजा।

इन्द्रप्रस्थ को जाते हुए पाण्डव अभी मार्ग ही में थे कि धृतराष्ट्र का दूत उनसे मिल गया और युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का आदेश सुनाया, जिसके अनुसार पाण्डवों को हस्तिनापुर तुरन्त लौट आना था और पुनः नयी सन्धाओं के साथ द्यूत क्रीड़ा करनी थी।

दूसरी बार द्यूत क्रीड़ा का परिणाम और पाण्डवों का वन गमन :

जब धृतराष्ट्र का दूत इन्द्रप्रस्थ जाते हुए पाण्डवों से मार्ग ही में मिल गया और उसने उनको धृतराष्ट्र का आदेश सुनाया तो पाण्डवों ने जान लिया कि, अब पुनः धृतराष्ट्र और दुर्योधन हमारे ऊपर कोई नयी विपत्ति ढाने वाले है, फिर भी महाराज युधिष्ठिर पाण्डवों और द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर लौट आये।

जैसा कि पाठक समझ ही रहें होंगे युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के आदेश पर पुनः शकुनि आदि के साथ द्यूत क्रीड़ा की और द्यूत में पराजित होकर द्यूत की सन्धा के अनुसार तुरन्त अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के गुप्त वनवास का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो गये एवं वन जाने की तैयारी करने लगे।

इधर जब भगवान् कृष्ण द्वारका लौटने के पश्चात् शाल्व और दन्तवक्त्र का वध करके द्वारकापुरी की सुरक्षा की व्यवस्था करके निश्चिंत होकर पुनः हस्तिनापुर लौटे तो वहाँ उन्होंने देखा कि पाण्डव लोग महाराज धृतराष्ट्र के आदेश से पुनः द्यूत क्रीड़ा करके द्यूत में हारकर द्यूत की सन्धा के अनुसार बारह वर्ष के वनवास और तत्पश्चात् एक वर्ष के गुप्त वनवास के लिए तैयारी कर रहे हैं।"

भगवान् कृष्ण अब कर ही क्या सकते थे। उन्होंने वन जाते हुए पाण्डवों की प्रत्येक प्रकार से उनके वनवास के जीवन में उनकी पूर्ण सहायता का आश्वासन दिया और अब अपनी भावी योजना बनाने लगे।

भगवान् कृष्ण की भावी योजना :

भगवान् कृष्ण ने अब तक घटित समस्त बातों पर पूर्णतया विचार किया और समस्त परिस्थितियों का अध्ययन किया। अब उन्हें यह बात स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगी कि

सम्राट धृतराष्ट्र और दुर्योधन तथा उनके कर्णादि सभी सहयोगी पाण्डवों के विनाश के लिए कुटिलतम कार्य करने के लिए तैयार हैं, अत: वे पाण्डवों को बारह वर्ष के वनवास एवं तत्पश्चात् एक वर्ष के गुप्त वनवास की अवधि के समाप्त कर लेने पर भी उन्हें उनका राज्य लौटायेंगे नहीं ही। अत: कौरवों एवं पाण्डवों के बीच भयंकर संग्राम महाभारत युद्ध होना निश्चित ही है। अब मुझे कौरवों और पाण्डवों के बीच अवश्यम्भावी संग्राम के लिए तैयारी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। निश्चय ही यह संग्राम भारतव्यापी ही नहीं, वरन् विश्वव्यापी महायुद्ध होगा और इसमें भारतवर्ष के ही नहीं, वरन् संसार के सभी राजे-महाराजे एक या दूसरे पक्ष से लड़ने के लिए किसी न किसी रूप में अवश्य सम्मिलित होंगे। इस युद्ध को महाभारत युद्ध ही कहना उचित होगा।

अब भगवान् कृष्ण ने सोचा कि मुझे न्यायी एवं सत्याचारी पाण्डवों की सहायता के लिए सारे भारतवर्ष में भ्रमण करना चाहिए और उनके अनुकूल वातावरण तैयार करना चाहिए, किन्तु सबसे पहले मुझे द्वारका साम्राज्य की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर देनी चाहिए, जिससे कि मैं उसकी ओर से निश्चिंत होकर भारतवर्ष भर में पाण्डवों के सहायतार्थ भ्रमण कर सकूँ।

द्वारका की सुरक्षा (पौण्ड्रिक और दन्तवक्त्र विषय में भी कुछ) :

पहले भगवान् कृष्ण ने द्वारका साम्राज्य की पूर्ण व्यवस्था की। भगवान् कृष्ण के भयंकर विरोधी जरासन्ध और शिशुपाल आदि तो बहुत पहले ही मारे जा चुके थे, उनके जो शेष शत्रु पौण्ड्रक और दन्तवक्त्र थे, उनका भी भगवान कृष्ण ने थोड़े ही पहले वध कर दिया था। हम यहाँ पाठकों के ज्ञानार्थ पौण्ड्रिक, मिथ्यावासुदेव, शाल्व और दन्तवक्त्र के विषय में कुछ विस्तार से बतला देना उचित समझते हैं।

पौण्ड्रिक या मिथ्यावासुदेव :

पौण्ड्रिक की कथा विचित्र ही है। पौण्ड्रिक पुण्ड्र और बंग देश का एक बलिष्टतम नरेश था। किन्तु बल की अपेक्षा उसमें अभिमान अधिक था।

पौण्ड्रिक यद्यपि बंग देश और पुण्ड्र देश का अधिपति था, किन्तु वह मूर्ख भी था। उस काल में भारत की साधारण जनता भगवान् कृष्ण के उदात्त चरित्र के कारण उन्हें श्रद्धापूर्वक महिमात्मक शब्दों में पुरुषोत्तम और श्री वासुदेव नामों से अभिहित करने लगी थी। किन्तु जब अभिमानी पौण्ड्रिक, लोगों को भगवान् कृष्ण की इस प्रकार प्रशंसा करते हुए सुनता था, तो उसके मन में यह भाव उत्पन्न होता था कि, मैं एक शक्तिशाली नरेश हूँ। मेरा राज्य यादव साम्राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। फिर लोग क्यों श्रीकृष्ण को ही श्रद्धा के साथ महिमात्मक शब्दों में 'श्री वासुदेव' कहते हैं क्यों न लोग मुझे भी श्री वासुदेव अभिधान से अभिहित किया करें जबकि मेरे पिताजी का भी नाम श्री वासुदेव ही था। ज्ञातव्य है कि पौण्ड्रिक के पिता का नाम भी श्री वासुदेव ही था किन्तु ये भगवान कृष्ण के पिता श्री वासुदेव जी से भिन्न थे।

अन्त में उसके मन में आया कि मैं श्रीकृष्ण की द्वारका पर आक्रमण करके उसे या तो मार डालूँ या फिर उसे अपना सामन्त बना लूँ और लोगों से कह दूँ कि "तुम लोग अब श्रीकृष्ण के स्थान में मुझे ही श्री वासुदेव कहा करो।"

पौण्ड्रक भगवान् कृष्ण के लिंग परिचय चिन्ह चक्र सुदर्शन, पीताम्बर, वनमाल और श्री वत्स आदि भी धारण करने लग गया था। अपने को श्री वासुदेव कहलवाने की उसकी आकांक्षा इतनी बलवती हो गयी थी कि लोग उसे व्यंग्यात्मक भाषा में मिथ्यावासुदेव के नाम से अभिहित करने लग गये थे।

शोणितपुर के नरेश बाणासुर पर विजय के पश्चात् जब यादव लोग द्वारका में उत्सव मना रहे थे तभी एक दिन मिथ्यावासुदेव ने भगवान् कृष्ण के पास अपना एक दूत इस पत्र के साथ भेजा—"कृष्ण, देखो, वास्तविक वासुदेव तो मैं हूँ तुम नहीं, अतः तुम जो श्री वासुदेव के चिन्ह चक्र सुदर्शन और पीताम्बर आदि धारण करते हो, उन्हें छोड़ दो और मेरे सामन्त नरेश बन जाओ या फिर मुझसे युद्ध करो।"

भगवान् कृष्ण मिथ्यावासुदेव का उपर्युक्त पत्र पाकर बहुत हँसे और जब उन्होंने सुना कि मिथ्यावासुदेव द्वारका पर आक्रमण करने के लिए बंग देश से चल भी पड़ा है और अपने मित्र काशिराज के यहाँ ठहरा हुआ है, तो भगवान् कृष्ण अपनी एक सेना के साथ काशी ही में आ धमके और घमासान युद्ध के पश्चात् पौण्ड्रक का वध कर दिया।

काशिराज और उनके पुत्र ने भी अपने मित्र मिथ्यावासुदेव की ओर से भगवान् कृष्ण से युद्ध किया और वे भी भगवान् कृष्ण के हाथों मारे गये। अन्त में काशिराज का उत्तराधिकारी भगवान् कृष्ण का एक सामन्त नरेश बन गया।

शाल्व और दन्तवक्त्र

शाल्व और दन्तवक्त्र के विषय में स्कन्ध आठ के अध्याय दो में चर्चा की जा चुकी है। शाल्व नरेश ने द्वारिका पर उसी समय आक्रमण किया था, जब दुर्योधन अपनी सबसे बड़ी द्यूत सभा का आयोजन कर रहा था, जिसमें वह महाराज्ञी द्रौपदी को नग्न करने जैसा नीच कर्म कराने वाला था।

शाल्व :

शाल्व देश का नरेश था। वह एक अनार्य मूल का नरेश था इसी से उसका वास्तविक नाम न लिखकर पुराणों में उसे शाल्व ही कहा गया है। शाल्व नरेश बड़ा ही शक्तिशाली था। उसने कुछ ऐसे नये ढंग से शस्त्रास्त्र प्राप्त कर लिए थे, जिससे उसे पूर्ण विश्वास था कि मैं द्वारका पर अवश्य विजय प्राप्त कर लूँगा। पुराणों के अनुसार शाल्व ने एक ऐसा विमान भी तैयार करा लिया था, जिस पर जब वह आरूढ़ होकर युद्ध करता था, तो उसे कोई देख नहीं पाता था। वह माया युद्ध में भी बड़ा प्रवीण था।

वह भगवान् कृष्ण के पिता वासुदेव आदि की सटीक बनावटी प्रतिमाएँ तैयार करा लेता था, जो वास्तविक श्री वसुदेव आदि जान पड़ती थी और उन प्रतिमाओं का सिर

लोगों के समक्ष काटकर झूठे ही बहकता था कि देखो मैंने श्री वसुदेव जी को मार डाला है और कृष्ण मेरा कुछ भी नहीं कर सका।

शाल्व सत्ताइस दिनों तक द्वारका पर घेरा डाले रहा। किन्तु अन्त में भगवान् कृष्ण उसका वध करने में सफल हो ही गये।

दन्तवक्त्र :

शाल्व के अनन्तर ही दन्तवक्त्र ने भी द्वारका पर आक्रमण कर दिया था। वह करुष देश का अधिपति वृद्ध का पुत्र था और भगवान् कृष्ण का फुफेरा भाई था। उसके बल और तामस स्वभाव को इसी बात से समझा जा सकता है कि जनता में दन्तवक्त्र और शिशुपाल दोनों को उनके बल और दुष्टता की दृष्टि से उन्हें सत्ययुगीन दैत्य हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु का अवतार कहा जाता था।

अन्त में भगवान् कृष्ण ने दन्तवक्त्र का भी वध कर दिया। पौण्ड्रिक या मिथ्या वासुदेव, शाल्व और दन्तवक्त्र के पश्चात् अब भगवान् कृष्ण का कोई ऐसा शत्रु नहीं बचा था, जो द्वारका पर आक्रमण कर सकता, फिर भी द्वारका के रक्षार्थ उचित सैन्य बल की व्यवस्था करके भगवान् कृष्ण द्वारका की सुरक्षा की ओर से निश्चिंत हो गये और अपनी योजना के अनुसार पाण्डवों के सहायतार्थ भारतवर्ष में घूम-घूमकर पाण्डवों के सत्याचार एवं न्यायप्रियता का प्रचार-प्रसार करने लगे।

अध्याय-चार

अब हम आगे के अध्याय में बतलायेंगे कि द्वारका से हस्तिनापुर पुनः आने के पश्चात् भगवान् कृष्ण ने आगे क्या किया? किन्तु पहले हम भीम जी की शपथपूर्वक प्रतिज्ञाओं के विषय में पाठकों को कुछ अवश्य बतलायेंगे क्योंकि कवियों ने अपने काव्यों में उनकी बड़ी चर्चा की है।

भीम की तीन भीषण प्रतिज्ञाएँ और महाभारत युद्ध में उनकी पूर्ति :

कौरवों ने पाण्डवों को बहुत उत्पीड़ित किया था, किन्तु उनके उत्पीड़न का भीम पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। यतः प्रारम्भ में पाण्डवों को विष देकर मार डालने के उपक्रम में भीम को ही दुर्योधन ने सबसे पहले विष दिया था और जो वह उन्हें बैल-बैल कहकर सदैव चिढ़ाया भी करता था तथा जो कपट द्यूत में दुर्योधन ने दो-दो बार पाण्डवों को जीतने का नाटक किया था और जो भीम के सामने ही दुःशासन ने उनकी प्यारी पत्नी रजस्वला द्रौपदी को उसका केश पकड़कर सहस्रों नरेशों से भरी हुई सभा में भूमि पर घसीटा था। इन सब बातों से भीम के हृदय को इतना अधिक आघात लगा था कि उन्होंने द्यूत सभा में घोषणा कर दी थी कि दुःशासन, मैं युद्ध क्षेत्र में तेरी छाती फाड़कर तेरे गरम-गरम रक्त को अञ्जुलि से पीकर ही शान्त हूँगा तथा द्रौपदी के केश जो उसके भूमि पर घसीटने से खुल गये हैं, उनको अब तेल से नहीं, वरन् तेरे रक्त से ही संवार कर

(89) बाधूँगा। भीम ने उसी समय दुर्योधन की जंघाओं को अपनी गदा से तोड़ डालने की भी प्रतिज्ञा की थी, क्योंकि दुर्योधन अपनी उन जंघाओ पर द्रौपदी को भरी सभा में नग्न कराकर बैठवाने वाला था।

भीम ने अपनी प्रतिज्ञाओं को अक्षरशःपूर्ण किया। महाभारत युद्ध में जब भीष्म और द्रोणाचार्य के पश्चात् कर्ण कौरव सेना का सेनानायक बना तो उसी के सेनापतित्त्व में एक दिन रणक्षेत्र में दुःशासन और भीम का आमना-सामना हो गया। फिर तो भीम ने दुःशासन पर तुरन्त आक्रमण कर दिया तथा कर्ण आदि के समक्ष ही कहा "देखूँगा, अब इस दुष्ट को आज मुझसे कौन बचा लेता है," भीम ने दुःशासन को पटककर सचमुच ही उसकी छाती फाड़ डाली एवं सचमुच ही वे अपनी अंजलियों से उसका गरम-गरम रक्त पीकर प्रसन्नता से नाचने लगे तथा कहने लगे "मैंने अब तक अपने जीवन में एक से एक मधुर पेय पदार्थ पिये हैं, किन्तु मैंने दुःशासन के रक्त जैसा स्वादिष्ट कोई पेय अब तक नहीं पिया था। "युद्ध क्षेत्र में लोगों ने भीम को ऐसा करते देखकर अपनी आँखें मूँद ली थी और उन्हें राक्षस-राक्षस कहने लगे थे, किन्तु भीम ने इन बातों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था उसी अवस्था में रक्त से लथपथ भीम दौड़ते हुए अपने शिविर में भी घुस गये, जहाँ द्रौपदी अकेली चिन्ताग्रस्त अवस्था में बैठी हुई थी और वे दुःशासन के रक्त से उसके खुले हुए केशों को सँवारकर बाँधने लगे। द्रौपदी भीम को इस अवस्था में देखकर उन्हें पहचान भी नहीं सकी थी किन्तु जब उन्होंने बतलाया कि मैं भीम हूँ और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके तुम्हारे खुले हुए केशों को दुःशासन के रक्त से सँवार कर बाँध रहा हूँ तो द्रोपदी आनन्द से खिल-खिलाकर हँसने लगी। भीम की इस कथा पर भी कवियों ने विशाल साहित्य का सृजन किया है, जिनमें "वेणी संहार" आदि कुछ नाटक प्रधान हैं। वेणीसंहार का अर्थ ही होता है 'जूड़ा बाँधना।'

महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन जब दुर्योधन सर्वथा हारकर अकेला ही रह गया था और द्वैपायन नामक सरोवर में एक द्वीप पर उगी हुई झाड़ियों में जा छिपा था, तो वहाँ पाण्डवों ने उसे खोजकर उसे गदा युद्ध करने के लिए विवश किया था और भीम ने गदा-युद्ध में ही दुर्योधन की उन दोनों जंघाओं को तोड़ डाला था, जिन पर उसने द्यूत-सभा में रजस्वला द्रौपदी को नंगी करके बैठाने का दुःशासन को आदेश दिया था। भीम के इस कथा के पढ़ने से ज्ञात होता है कि कौरव कितनी अधिक दुष्टता कर सकते थे और फिर उनको अपनी दुष्टता का कैसा दुष्परिणाम भी भोगना पड़ा। इतिहास में ऐसी दुष्टता और उसके ऐसे प्रतिशोध की कथा सुनने को नहीं मिलती है।

स्कन्ध 'नौ'

प्राक्कथन :

इस स्कन्ध में बतलाया गया है कि किस प्रकार पाण्डवों ने महाराज्ञी द्रौपदी के साथ अपनी एक वर्ष के गुप्त वनवास की अवधि मत्स्य देश के महाराज विराट के महालय में व्यतीत की।

अब ऐसा हुआ कि पाण्डवों की गुप्त वनवास की अवधि की समाप्ति की बात को न जानते हुए ही दुर्योधन ने अपने महारथियों कर्ण एवं द्रोणाचार्य आदि को विराट नगर पर आक्रमण करने के लिए भेजा, क्योंकि वह मत्स्य देश को अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। पाण्डवों ने अपने को इसी अवसर पर प्रकट कर देना उचित समझा और प्रकट होकर महाराज विराट की ओर से द्रोणाचार्य एवं कर्ण आदि के साथ भीषण युद्ध करके उन्हें पराजित कर दिया।

जब महाराज विराट को ज्ञात हुआ कि पाण्डव मेरे ही महालय में एक वर्ष से वेश बदलकर रह रहे थे, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह महाराज अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ करने का निश्चय किया।

अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ तथा पाण्डव एवं भगवान् कृष्ण अपने सम्बन्धी मित्र नरेशों के साथ विराट नगर के समीप ही उपप्लव्य नामक नगर में कुछ काल के लिए अस्थायी प्रकार से बस गये और यहीं उन्होंने अपनी भावी योजना बनायी। पहले भगवान् कृष्ण ने पाण्डवों और कौरवों के बीच सन्धि कराने का प्रयत्न किया। सन्धि के प्रस्ताव को दुर्योधन द्वारा ठुकरा दिये जाने पर कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध होना निश्चित हो गया।

स्कन्ध के अन्त में शिखण्डी के विषय में भी कुछ महत्वपूर्ण बातें बतलायी गयी हैं।

अध्याय-एक

पाण्डवों के द्वारा वनवास की अवधि व्यतीत करना :

पाण्डवों ने अपने वनवास के बारह वर्षो की अवधि को व्यतीत कर लेने के पश्चात् एक वर्ष के गुप्त वनवास की अवधि मत्स्य देश के नरेश महाराज विराट के महालय में वेश बदलकर रहते हुए व्यतीत की।

महाराज विराट के महालय में पहुँचकर युधिष्ठिर ने अपना नाम कंक बतलाया और अपने को एक ब्राह्मण बतलाया तथा कहा कि महाराज, मैं द्यूत खेलने की कला मे प्रवीण हूँ और पासों के विभिन्न खेल दिखाकर आप एवं आपके सभासदों का मनोरंजन कर सकता हूँ।"

ऐसे ही भीम ने महाराज विराट से कहा "महाराज मेरा नाम बल्लभ है। मैं एक रसोइयाँ हूँ और पाक शास्त्र की कला में प्रवीण हूँ। मैं विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट व्यञ्जन

तैयार कर सकता हूँ साथ ही मैं मल्ल कला में भी प्रवीण हूँ और बड़े-बड़े मल्लों को द्वन्द्व युद्ध में परास्त कर सकता हूँ।

महाराज विराट् की सभा मे उपस्थित होकर अर्जुन ने उनसे कहा, "महाराज, मै एक नपुंसक हूँ। मैं आपकी उत्तरा सहित अन्य बालिकाओं को गाने-बजाने और नृत्य करने की शिक्षा दे सकती हूँ।

ऐसे ही नकुल ने महाराज विराट् से अपना नाम ग्रन्थिक बतलाया और कहा, "महाराज मैं घोड़ों को शिक्षा देने में कुशल हूँ तथा सहदेव ने अपना नाम तन्तिपाल बतलाते हुए अपने को गो-रक्षा के कार्य में प्रवीण बतलाया। द्रौपदी ने भी अपने को सैरन्ध्री बतलाते हुए महाराज विराट से कहा, "महाराज मैं बालों के सँवारने की कला में प्रवीण हूँ और विभिन्न प्रकार की मालाएँ गूंथ कर भी तैयार कर सकती हूँ।

महाराज विराट् ने पहले इन सबकी परीक्षा ली और फिर उन्हें यथोचित सेवा-पदों पर नियुक्त कर दिया। अब द्रौपदी सहित पाण्डव महाराज विराट् की राजधानी विराट् नगर में रहने लगे।

भला जहाँ अर्जुन-जैसा वीर और धनुर्धर एक नपुंसक के वेश में रह रहा हो एवं भीम-जैसा मल्ल एक रसोइया के रूप में रह रहा हो, वहाँ कोई इनको पहचान ही कैसे सकता था?

गुप्त वनवास के दिनों में घटित एक महत्त्वपूर्ण बात :

पाण्डव जब मत्स्य देश के विराट् नगर में अपने गुप्त वनवास की अवधि व्यतीत कर रहे थे, उन्हीं दिनों एक महत्त्वपूर्ण बात घटित हुई।

मत्स्य देश के नरेश महाराज विराट् का सेनापति कीचक बड़ा ही वीर था। सम्राट धृतराष्ट्र और उनका पुत्र दुर्योधन दोनों मत्स्य देश को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे, किन्तु कीचक के भय से वे विराट् नगर पर आक्रमण नहीं करते थे।

अब इधर ऐसा हुआ कि कीचक द्रौपदी के रूप पर आसक्त हो गया और उसके मन में द्रौपदी के साथ संभोग करने की इच्छा प्रबल हो उठी। द्रौपदी ने विराट् के महालय में अपनी नियुक्ति के समय ही लोगों को बतला दिया था कि मेरे शरीर पर पाँच यक्ष रहते हैं, अतः यदि कोई कभी मेरे शरीर को छुयेगा तो मेरे शरीर पर रहने वाले यक्ष उसे मार डालेंगे किन्तु कीचक ने द्रौपदी की इस बात को ध्यान देने योग्य नहीं समझा था और एक दिन उसने द्रौपदी के कुटीर में रात में प्रवेश कर ही दिया। तब भीम, नकुल, सहदेव पाण्डवों ने उसे बुरे प्रकार से मार डाला। इतना ही नहीं, जब कीचक के मृत शरीर का दाह करने के लिए उसके भाई उसे शमशान पर ले गये, तो वहाँ भी पाण्डवों ने वेश बदलकर प्रकट होकर उनका विनाश कर दिया।

अब तो यह प्रवाद विराट नगर में फैल गया कि द्रौपदी के शरीर पर पाँच यक्ष रहते हैं और उन्होंने कीचक तथा उसके भाइयों का वध कर दिया। महाराज विराट भी इस बात से डर से गये।

विराट नगर पर आक्रमण :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सम्राट धृतराष्ट्र और उनके पुत्र दुर्योधन मत्स्य देश को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे, किन्तु कीचक के भय से ही वे विराट् नगर पर आक्रमण नहीं करते थे। कीचक के वध पर दुर्योधन के विराट् नगर पर आक्रमण की आकांक्षा प्रबल हो उठी और उसने अपने सेनानियों, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य एवं कर्ण आदि के द्वारा विराट् नगर पर आक्रमण करवा ही दिया। फलतः द्रोणाचार्य और कर्ण आदि अपनी सेनाओं के साथ विराट् नगर पर चढ़ आये।

गुप्त वनवास से प्रकट होने का उपयुक्त अवसर :

इधर पाण्डवों के एक वर्ष के गुप्त वनवास की अवधि भी पूर्ण हो चुकी थी। अतः उन्होंने अब अपने को प्रकट कर देना चाहा। कर्ण और द्रोणाचार्य आदि के द्वारा विराट् नगर पर आक्रमण का समय ही अपने को प्रकट करने के लिए पाण्डवों को सबसे उचित अवसर जँचा और अन्त में उन्होंने अपने को प्रकट कर ही दिया। द्रोणाचार्य आदि के द्वारा विराट् नगर पर आक्रमण के प्रसंग में एक बड़ी मनोरंजक कथा प्रचलित है, जो निम्नांकित है–

गुड़ियों का पर्व :

जब द्रोणाचार्य और कर्णादि ने विराट् नगर की सेनाओं पर आक्रमण किया तो अर्जुन आदि पाण्डवों ने प्रकट होकर विराट् के सैनिकों का साथ दिया। फलतः द्रोणाचार्य और कर्ण आदि बहुत बुरे प्रकार से पराजित हुए। पाण्डवों की मार से तो कर्ण, द्रोणाचार्य तथा दुर्योधन के कई सेनानी रणक्षेत्र में अचेत से हो गये। ये सेनानी जैसे रंगीन वस्त्र धारण किये हुए थे वैसे रंगीन वस्त्र मत्स्य देश में नहीं बनाये जाते थे, अतः विराट् नगर की महिलाओं ने इन अचेत पड़े सेनानियों के रंगीन वस्त्रों को उनके शरीरों पर से उतार लिया और उनकी गुड़िया बना डाली। फिर दुर्योधन के सेनानियों का परिहास और अपमान करने के लिए विराट् नगर की स्त्रियों ने उन गुड़ियों को जल के सरोवरों मे फेंक दिया, जहाँ बालकों ने उन्हें अपने डण्डों से पीट-पीटकर चिथड़ा कर दिया।

भारत के कुछ प्रदेशों में आजकल जो नागपंचमी के दिन गुड़ियों को सरोवरों मे फेंककर उन्हें डण्डों से पीटकर चिथड़ा कर डालने का पर्व प्रचलित है, वह पर्व दुर्योधन के सेनानियों द्रोणाचार्य एवं कर्णादि की उपर्युक्त प्रकार की पराजय की स्मृति में ही मनाया जाता है।

अध्याय-दो

गुप्त वनवास की अवधि का अन्त होने पर उपप्लव्य नगर में पाण्डव सभा

जब पाण्डवों के गुप्त वनवास की अवधि का अन्त हो गया, तो विराट् नगर में उत्सव मनाया जाने लगा। महाराज विराट् यह जानकर कि पाँचों पाण्डव और द्रौपदी ही उनके महालय में वेश बदलकर एक वर्ष से रह रहे थे, बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी पुत्री

उत्तरा का विवाह अर्जुन से करने का निश्चय किया। किन्तु यतः अर्जुन ने बृहन्नला के रूप में उत्तरा को नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा दी थी, अतः उन्होंने अपनी शिष्या उत्तरा को अपनी धर्मपत्नी के स्थान में अपनी पुत्र वधू बनाना ही अधिक उपयुक्त समझा और अभिमन्यु का उत्तरा के साथ विवाह निश्चित हो गया। उत्तरा और अभिमन्यु का विवाह बड़ी धूमधाम से किया गया।

उत्तरा और अभिमन्यु के विवाह के अवसर पर पाण्डवों एवं भगवान् कृष्ण के सभी मित्र और सम्बन्धी राजे-महाराजे बहुत बड़ी संख्या में विराट् नगर में एकत्रित हुए।

विवाह के अन्त में अब भगवान् कृष्ण और पाण्डवों ने यही उचित समझा कि कुछ दिनों के लिए कहीं एक स्वतन्त्र स्थान पर स्थित होकर रहा जाय, जहाँ पाण्डव अपने मित्रों एवं हितैषियों के साथ बराबर मिलते रहें और इस बात पर परामर्श करते रहे कि हमें अब कौरवों के साथ कैसे निपटना चाहिए तथा हमारी भावी योजना क्या हो?

एतदर्थ भगवान् कृष्ण और पाण्डवों ने उपप्लव्य नामक एक स्थान को चुना, जो विराट् नगर से थोड़ी ही दूरी पर, किन्तु मत्स्य राज्य में ही स्थित था।

(पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मत्स्य राज्य आधुनिक अलवर और जयपुर के बीच में स्थित था, उससे उपर्युक्त उपप्लव्य नगर से हस्तिनापुर रथ द्वारा एक दिन की दूरी पर स्थित था। उपप्लव्य नगर और हस्तिनापुर के बीच कुरुदेश का प्रसिद्ध नगर वृकस्थल स्थित था।)

पाण्डवों की सभा का निश्चय :

उपप्लव्य नगर में पाण्डवों और उनके हितैषियों की जो सभा हुई उसमें सर्वसम्मति से यही निश्चय किया गया कि यद्यपि कुटिल धृतराष्ट्र और दुर्योधन पाण्डवों को उनका राज्य शान्तिपूर्वक लौटायेंगे नहीं, फिर भी युद्ध करने से पूर्व उनके पास पाण्डवों की ओर से सन्धि का प्रस्ताव भेजा जाये और उसका उत्तर मिलने के पश्चात् ही भावी योजना पर विचार किया जाय।

तद्नुसार ही पाण्डवों ने सन्धि का अपना प्रस्ताव धृतराष्ट्र और दुर्योधन के पास एक दूत द्वारा भेजा। इस प्रस्ताव के उत्तर में भगवान कृष्ण से बातचीत करने के लिए धृतराष्ट्र का मन्त्री संजय स्वयं उपप्लव्य नगर आया।

संजय और महाराज युधिष्ठिर के बीच बातचीत :

संजय ने युधिष्ठिर और भगवान् कृष्ण से खुलकर बातें की। महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना पक्ष बहुत स्पष्ट शब्दों में संजय के समक्ष रख दिया, जिसका सारांश यह था कि हम लोग भरसक शान्ति चाहते हैं, युद्ध नहीं। यदि दुर्योधन बिना युद्ध किये हुए ही हम पाँच भाइयों को अपने विशाल राज्य में से केवल पाँच नगर ही दे दे तो भी हम उसमें सुख से अपना जीवन व्यतीत करने लगेंगे और ऐसा करने से कौरव और पाण्डव दोनों कुलों का परमहित होगा। पाँच नगर जो हम चाहते हैं, वे हैं,–(1) अविस्थल (2)

वृकस्थल (3) माकन्दी (4) वारणावत (5) इन चारों के अतिरिक्त कोई एक और नगर जिसे दुर्योधन स्वयं देना उचित समझे। यदि दुर्योधन इस पर भी सन्धि करने के लिए तैयार न हो तो हम युद्ध करने के लिए तैयार बैठे हैं।

कौरव सभा में भगवान् कृष्ण :

संजय के चले जाने पर कुछ सोच-विचार के पश्चात भगवान् कृष्ण स्वयं ही सन्धि के प्रस्ताव के साथ हस्तिनापुर पधारे और कौरवों के सामन्त नरेशों से भरी सभा में अपना प्रस्ताव रखा। किन्तु दुर्योधन तो बड़ा ही अन्यायी एवं अत्याचारी था, उसने भगवान् कृष्ण से स्पष्ट शब्दों में कह दिया,–"युधिष्ठिर ही ने द्यूत-क्रीड़ा करके अपना सब कुछ गँवाया, इसमें हमारा क्या दोष? हम पाण्डवों को बिना युद्ध किये हुए अपने राज्य का कोई अंश तो क्या सुई की नोक बराबर भूमि भी नहीं देंगे।

इतना ही नहीं, दुर्योधन ने अपने साथियों के साथ मन्त्रणा करके भगवान् कृष्ण को बन्दी तक बना लेने का उपक्रम रचा। जब भगवान् कृष्ण को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने दुर्योधन के एक सहस्र सामन्त नरेशों से भरी हुई सभा में अपना चक्र सुदर्शन घुमाते हुए अपना तेजोमय रूप प्रकट कर दिया, जिससे न केवल ये सामन्त नरेश बहुत भयभीत ही हो गये अपितु बहुतों ने तो भगवान् कृष्ण के तेजोमय रूप की ओर ताकने का भी साहस नहीं किया और अपनी आँखें मूँद लीं।

अन्त में भगवान् कृष्ण सभा कक्ष में से निकले और धृतराष्ट्र ने दुर्योधन आदि की ओर से उनसे क्षमा याचना की।

अब भगवान् कृष्ण उपप्लव्य नगर लौट आये और पाण्डवों की ओर से युद्ध की तैयारी करने लगे।

कर्ण के जन्म का रहस्य :

यहाँ हम स्वल्प में यह भी बतला दें कि जब भगवान कृष्ण हस्तिनापुर से विदा होने लगे, तो धृतराष्ट्र आदि के साथ ही कर्ण भी उन्हें विदा करने वालों में से था। कर्ण से एकान्त में भगवान कृष्ण ने उसके जन्म के सम्बन्ध में वास्तविक बात बतला दी और कहा कि तुम वास्तव में महाराज युधिष्ठिर के बड़े भाई हो और कुन्ती ने तुम्हें सूर्यदेव जैसे एक तेजस्वी महापुरुष से प्रसंग करके अपनी कौमारावस्था में ही जन्म दिया था। अतः तुम्हें महाभारत महायुद्ध में पाण्डवों की ही सहायता करनी चाहिए।

महाराज्ञी कुन्ती ने भी हस्तिनापुर में ही श्रीकृष्ण और कर्ण के बीच उपर्युक्त बातचीत होने के पहले ही कर्ण को उसके जन्म की सच्चाई बतला दी थी। कर्ण ने दोनों को एक ही उत्तर दिया था कि मुझे दुर्योधन से अब तक जो आदर-सत्कार प्राप्त हुआ है, उसके कारण मैं कौरव पक्ष से लड़ूँगा ही, किन्तु साथ ही मैं यह भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि, रणक्षेत्र में मैं एक अर्जुन को ही मारूँगा और अर्जुन को छोड़कर किसी अन्य पाण्डव का वध नहीं करूँगा।

अध्याय-तीन

जब कौरवों की सभा में दुर्योधन द्वारा भगवान कृष्ण का सन्धि प्रस्ताव ठुकरा दिया गया, तब दोनों पक्ष अपने सैन्य संग्रह में संलग्न हो गये और अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के सहायतार्थ निमन्त्रण भेजने लगे।

सैन्य-संग्रह के प्रसंग में कुछ विचित्र या मनोरंजक बातें :

कौरव और पाण्डव दोनो पक्षों के सैन्य-संग्रह के प्रसंग में कुछ विचित्र एवं मनोरंजक बातें हुईं, जिनका अति संक्षेप में हम वर्णन कर देना उचित समझते हैं-

भगवान् कृष्ण के युग में नियम-सा बन गया था कि जब दो पक्षों के बीच युद्ध छिड़ जाता था, तो दोनों पक्ष अपने-अपने सम्बन्धियों से सहायता माँगते थे और ये सम्बन्धी भी बिना न्याय-अन्याय पर विचार किए हुए ही सहायता किया करते थे। यद्यपि इसके कुछ लोग अपवाद भी थे।

भगवान् कृष्ण द्वारा दोनों पक्षों की सहायता :

इस प्रसंग मे एक बड़ी मनोरंजक बात यह हुई कि "भगवान् कृष्ण कौरव और पाण्डव दोनों के सम्बन्धी थे। स्वयं दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा का विवाह भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ हुआ था और पाण्डव तो भगवान् कृष्ण के सगे फुफेरे भाई थे ही। अतः भगवान् कृष्ण ने यह जानते हुए भी कि, दुर्योधन अन्याय के मार्ग पर चल रहा है, युद्ध में उसकी सहायता के लिए उसे अपनी नारायणी सेना का एक अंश दे दिया तथा साथ ही अर्जुन का भी सारथी बनकर युद्ध में पाण्डवों की सहायता की। (उत्तम सारथी युद्ध में विजय दिलाने में एक बड़ी सेना से भी अधिक सहायक होता है।)

किन्तु जैसा कि हम अभी बतला चुके हैं, कुछ नरेश इस नियम का पालन नहीं करते थे, यथा-स्वयं शल्य ने जो कि पाण्डवों के मामा थे। पाण्डवों की ओर से न लड़कर दुर्योधन से विशेष आदर पाकर कौरवों की ही ओर से लड़े।

दोनों पक्षों की सेनाओं का विवरण :

अब कौरव और पाण्डवों के बीच युद्ध प्रारम्भ होने जा रहा था। अब दोनों पक्षों की सेनाओं ने कुरुक्षेत्र में अपने-अपने शिविर स्थापित किये।

पाण्डवों के पक्ष में लड़ने के लिए भारत से जो राजे-महाराजे आये थे उनका विवरण इस प्रकार है-(1) मत्स्य देश के महाराज विराट् के पुत्र उत्तर एवं शंख (2) पांचाल नरेश महाराज द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न (3) शिशुपाल का पुत्र चेदि नरेश धृष्टकेतु (4) जरासन्ध का पुत्र मगध राज जयत्सेन (5) केकय देश के दस भाइयों में से पाँच भाई सन्तर्नादि, जो भगवान् कृष्ण की बुआ श्रुतकीर्ति के पुत्र थे। (6) पाण्ड्य राज्य के नरेश (7) काशिराज (8) भोजराज्य के नरेश कुन्तिभोज-जिनका राज्य कुन्तिराष्ट्र में स्थित था और (9) यादव राज्य संघ के एक महारथी सात्यकि जो भगवान् कृष्ण को द्वारकास्थ

नारायणी सेना के सेनापति थे और जो भगवान् कृष्ण के भाई भी लगते थे, शिवि देश के नरेश जो महाराज युधिष्ठिर के श्वसुर थे, इन सभी नरेशों की कुल सेना सात अक्षौहिणी थी।

अब कौरव पक्ष से लड़ने वाले राजों-महाराजों के नाम सुनिए, जो दुर्योधन के सहायतार्थ कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए (1) प्राग्ज्योतिष देश (आधुनिक आसाम) के महाराज भगदत्त (2) सिन्धु देश के नरेश महाराज जयद्रथ (3) कम्बोज नरेश महाराज सुदक्षिण-इनकी सेना में यवनों एवं शक जातीय सैनिकों का बाहुल्य था। (4) अवन्ती देश के नरेश विन्द और अनुविन्द (5) केकय देश के पाँच सन्तर्नादि भाइयों से भिन्न दूसरे पाँच सहोदर भाई, जो महाराज धृष्टकेतु के ही पुत्र थे (6) माहिष्मत के नरेश महाराज नील (7) मद्रदेश के नरेश महाराज शल्य तथा (8) यादव राज्य संघ के एक राज्य के नरेश कृतवर्मा, जो हृदीक के पुत्र थे। इन नरेशों के कुल सैनिकों की संख्या ग्यारह अक्षौहिणी थी।

दोनों पक्षों की सेनाओं के प्रधान सेनापति एवं प्रत्येक अक्षौहिणी सेना के एक-एक सेनानायक नियुक्त किये गये, जो बड़े ही मान्य शूरवीर थे। पाण्डवों की सम्पूर्ण सेनाओं का प्रधान सेनापति भगवान कृष्ण के परामर्श से पाँचाल नरेश महाराज द्रुपद के पुत्र महाराज धृष्टद्युम्न को नियुक्त किया गया और वे ही अन्त तक पाण्डवों की समस्त सेनाओं के प्रधान सेनापति बने रहे। महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन रात में जब पाण्डवों की शेष सेना विजय से प्रसन्नता के कारण निश्चिन्त होकर अपने शिविरों मे सो रही थी, तभी अश्वत्थामा ने पाण्डवों के समस्त शेष सैनिकों के चुपके से उनके शिविरों में आग लगाकर उनकी हत्या कर दी थी और धृष्टद्युम्न को बड़े बर्बरतापूर्वक मार डाला था।

अब कौरवों के प्रधान सेनापतियों के विषय में सुनिये :

कौरवों की समस्त सेनाओं के प्रधान सेनापति पहले भीष्म पितामह नियुक्त किये गये, किन्तु जब शिखण्डी ने भीष्म पितामह पर मारात्मक शराघात कर दिया, जिसके फलस्वरूप वे शर शय्या पर पड़ गये, तब उनके पश्चात् महाराज द्रोणाचार्य कौरवों की समस्त सेनाओं के प्रधान सेनापति बने। महाराज द्रोणाचार्य के वीरगति को प्राप्त होने के पश्चात् कर्ण, कर्ण के पश्चात् शल्य, शल्य के पश्चात् शाल्व नरेश और शाल्व के भी वीरगति को प्राप्त हो जाने के पश्चात् अश्वत्थामा प्रधान सेनापति बने।

यहाँ यह जान लेना होगा कि जिस शाल्व कहलवाने वाले शाल्व नरेश का द्वारका के आक्रमण के समय भगवान् कृष्ण ने वध किया था, उसके पश्चात् जो उसका उत्तराधिकारी शाल्व हुआ, वही महाराज शल्य के पश्चात् कौरवों का प्रधान सेनापति बना था और महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन महाराज युधिष्ठिर द्वारा मार डाला गया।

अब अक्षौहिणियों के सेनानायकों के विषय में सुनिये। प्रत्येक अक्षौहिणी का सेनानायक एक बड़ा ही शूरवीर योद्धा होता था। पाण्डवों की जो सात अक्षौहिणी सेना थी, उसमें से एक अक्षौहिणी के सेनानायक शिखण्डी की चर्चा हम यहाँ करेंगे जिसने भीष्म

पितामह पर मारात्मक शराघात किया था। शिखण्डी की कथा महत्त्वपूर्ण होने के कारण लिखी जा रही है।

शिखण्डी

पाण्डवों की ओर से शिखण्डी भी एक अक्षौहिणी सेना का सेनानायक बनाया गया था। शिखण्डी वास्तव में काशिराज की पुत्री अम्बा ही थी। पाठकों ने स्कन्ध छः "विचित्रवीर्य का विवाह" शीर्षक के नीचे पढ़ा होगा कि "भीष्म काशिराज की पुत्री अम्बा को उसकी दो बहनों के साथ विचित्रवीर्य के विवाह के लिए हर लाये थे, किन्तु अम्बा अपने मन में शाल्व को ही वरण कर चुकी थी, अतः वह भीष्म की आज्ञा से शाल्व के ही पास चली गयी थी परंतु शाल्व ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि तुम्हें भीष्म हरण करके ले जा चुके हैं, अतः उन्हीं को तुम्हारे साथ विवाह करना चाहिए।

जब शाल्व ने अम्बा को अस्वीकार कर दिया, तो उसने भीष्म पितामह से निवेदन किया कि शाल्व मुझे इसलिए अस्वीकार कर रहे हैं, कि आप मुझे हर कर ले जा चुके थे, अतः अब आप ही मेरे साथ विवाह कर लें। किन्तु भीष्म ने भी अम्बा से विवाह करना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले चुके थे।

महाभारत काल में एक बड़े प्रसिद्ध धनुर्धर थे, जिन्हें लोग श्री परशुराम कहते थे। उन्होंने भी भीष्म पर अम्बा से विवाह के लिए दबाव डाला किन्तु एतदर्थ उद्यत नहीं हुए।

इस पर अम्बा को बड़ा रोष हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि अब मैं स्वयं धनुष चलाने का अभ्यास करूँगी और इस कला में पूर्ण निपुणता प्राप्त करके स्वयं भीष्म से ही लड़ूँगी और अन्त में उन्हें मार डालूँगी। भीष्म पितामह ने अम्बा जी की प्रतिज्ञा सुनी थी और कहा था, यदि कभी अम्बा मेरे ऊपर शर चलायेगी, तो मैं उसका प्रतिरोध नहीं करूँगा और उसे अपना वध करने ही दूँगा।"

अम्बा ने सचमुच शर-संचालन में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली, फलतः महाभारत युद्ध के छिड़ जाने पर वह पाण्डवों की एक अक्षौहिणी सेना का सेनानायक बनी और शिखण्डी नाम से विख्यात हुई।

शिखण्डी ने अन्त में महाभारत युद्ध के अवसर पर भीष्म पर अवसर पाकर बाण चला ही दिया और उन्हें रणक्षेत्र में शर शैय्या पर पड़ जाने के लिए विवश कर दिया।

कुछ पौराणिकों का कथन है कि जब अम्बा भीष्म के साथ युद्ध करने के लिए शर संचालन का अभ्यास करने लगी तो एक यक्ष को उस पर दया आ गयी और उसने अपना पुरुषत्व (पुरुष के लिंग और गुण) उसे दे दिया, फलतः अम्बा स्त्री से पुरुष बन गयी और शिखण्डी नाम से विख्यात हुई।

स्कन्ध 'दस'

युद्ध क्षेत्र में भी कई ऐसी बातें हुई, जिनका यदि भगवान् कृष्ण ने उचित प्रतिकार न किया होता, तो धर्मभीरु पाण्डव निःसन्देह पराजित हो गये होते। किन्तु भगवान् कृष्ण ने ऐसे प्रत्येक मार्मिक अवसर पर पाण्डवों को सँभाला। यथा–

एक बार द्रोणाचार्य ने पाण्डव–सेना पर ब्रह्मास्त्र चला दिया, जो युद्ध सम्बन्धी नियमों के विरुद्ध था, क्योंकि साधारण सैनिकों पर ब्रह्मास्त्र चलाना निषिद्ध था।

जब ब्रह्मास्त्र के चल जाने से पाण्डवों की सेना का भयंकर विनाश होने लगा, तो उससे पाण्डव सेना को बचाने का केवल एक ही उपाय था और वह यह था कि "द्रोणाचार्य को किसी प्रकार से यह विश्वास दिला दिया जाता कि तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा मार डाला गया है जिससे अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम करने वाले महाराज द्रोणाचार्य शोकाकुल होकर स्तब्ध हो जाते और उनका ब्रह्मास्त्र रुक जाता। ऐसा तभी संभव था, जब यह उद्घोष युधिष्ठिर स्वयं करते, क्योंकि द्रोणाचार्य महाराज युधिष्ठिर के ही वचन पर विश्वास रखते थे।

भगवान् कृष्ण ने अश्वत्थामा नामक अपने ही पक्ष के एक अत्यन्त बलिष्ट हाथी को मरवाकर ऐसा संस्वर (शोर) या कोलाहल मचवा दिया कि अश्वत्थामा मार डाला गया और महाराज युधिष्ठिर को भी इस भ्रम में रखा कि अश्वत्थामा मार डाला गया, किन्तु नर या कुंजर, अर्थात् पुरुष अश्वत्थामा अथवा हाथी अश्वत्थामा। परिणामतः महाराज युधिष्ठिर ने अपने सत्य भाषण की प्रतिज्ञा का पालन करते हुए कह दिया, "अश्वत्थामा मार डाला गया, किन्तु मनुष्य या हाथी।"

जब महाराज युधिष्ठिर ने ऐसा बोल दिया कि अश्वत्थामा मार डाला गया और वह आगे का वाक्यांश मनुष्य या हाथी बोलने ही वाले थे कि पाण्डवों के पक्ष के सैनिकों के तुमुल कोलाहल के कारण द्रोणाचार्य शेष वाक्यांश को सुन नहीं सके और पुत्र शोक के कारण संज्ञा शून्य से हो गये तथा उनका ब्रह्मास्त्र का चलाना रुक गया। बस इसी बीच द्रोणाचार्य का वध कर दिया गया।

(ब्रह्मास्त्र संभवतः आधुनिक अश्रु गैसों के गोलों के समान एक प्रकार की मारात्मक गैस के पिण्ड समूह होते थे, जिनके फूटने से ऐसी गैसें फैल जाती थीं, जिनसे मनुष्य मर जाते थे।)

रणक्षेत्र में कई मार्मिक अवसर :

युद्ध क्षेत्र में कई ऐसे अवसर उपस्थित हुए, जब भगवान् कृष्ण ने अपनी युक्ति से पाण्डव सेना एवं पाण्डव महारथियों की रक्षा की। यदि भगवान् कृष्ण ने उन अवसरों पर पाण्डवों की रक्षा न की होती तो महाभारत युद्ध में उन्हें विजय नहीं मिली होती। हम यहाँ ऐसा केवल एक और उदाहरण देंगे–

युद्ध क्षेत्र में एक बार दुर्योधन ने एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि अर्जुन को मुख्य युद्ध क्षेत्र से कुछ मीलों की दूरी पर युद्ध करने के लिए जाना पड़ गया।

जब अर्जुन मुख्य युद्ध क्षेत्र से हट गये तो कुटिल द्रोणाचार्य ने तुरन्त चक्रव्यूह की रचना करके पाण्डव सैनिकों को इस प्रकार घेर लिया कि पाण्डव महारथियों का विनाश निश्चित-सा हो गया। किन्तु षोडश वर्षीय अभिमन्यु ने चक्रव्यूह से पाण्डव महारथियों की रक्षा की। चक्रव्यूह के तोड़ने में अभिमन्यु ने ऐसी वीरता प्रदर्शित की कि कौरव महारथी उसके बल के सामने भयभीत हो गये और अन्यायपूर्वक द्रोणाचार्य सहित कई महारथियों ने एक साथ आक्रमण करके अभिमन्यु को मार डाला। अभिमन्यु के इस अन्यायपूर्वक वध में जयद्रथ अग्रणी था।

संध्या को जब महाराज अर्जुन अपने शिविर में लौटे और उन्हें अभिमन्यु के वध का प्रमुख कारण जयद्रथ को बतलाया गया, तो उन्होंने बिना सोचे-समझे प्रतिज्ञा कर डाली कि कल यदि मैं दिन के रहते ही रहते, अर्थात् सूर्यास्त के पूर्व तक जयद्रथ का वध करने में सफल नहीं होऊँगा तो आत्मदाह कर लूँगा।"

भला दुर्योधन के लिए जयद्रथ को एक दिन तक छिपा रखना क्या कठिन था, अतः दूसरे दिन कौरव सैनिकों ने जयद्रथ को पूरे दिन भर अर्जुन से छिपा रखा। परिणामतः संध्या के समय भगवान कृष्ण ने अर्जुन के लिए चिता तैयार करायी और अर्जुन को आदेश दिया कि "तुम एक वीर के समान सूर्यास्त से कुछ पहले ही चिता पर बैठ जाओ और जलकर भस्म हो जाओ, क्योंकि संध्या का समय संध्या वन्दन का समय होता है, उस समय तुम देव वन्दन करते हुए ही मरो। किन्तु यह तो भगवान् कृष्ण की राजनैतिक चाल थी। हुआ यह कि जब अर्जुन अपने तीर धनुष पर चढ़ाकर उसको हाथ में लिए हुए चिता पर आत्मदाह के लिए बैठ गये तो कौरवों की प्रसन्नता का कोई ठिकाना ही नहीं रहा और आत्मदाह के लिए चिता पर बैठे हुए अर्जुन को अन्तिम नमस्कार करने के लिए पाण्डव पक्ष के लोग तो आने ही लगे, कौरव पक्ष के लोग भी हँसते हुए अर्जुन को अन्तिम नमस्कार करने वालों में सम्मिलित हो गये। जब सूर्यास्त के कुछ ही क्षण शेष रह गये, तब जयद्रथ भी हँसता हुआ अर्जुन को अन्तिम नमस्कार करने लगा, वैसे ही भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "पार्थ, अरे, अभी कुछ क्षण दिन तो शेष ही है, अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो।" पार्थ ने भगवान् कृष्ण की वाणी सुनते ही हँसते हुए जयद्रथ पर तीर चला ही दिया और वह वहीं मर गया। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने आत्मदाह से अर्जुन की रक्षा की।

महाभारत युद्ध में विजय के पश्चात्-धर्म का शासन प्रारम्भ :

पाण्डवों को महाभारत युद्ध में विजय तो प्राप्त हो गयी, किन्तु कौरवों एवं पाण्डवों के कुलों का लगभग पूर्ण विनाश हो गया। कौरव ग्यारह अक्षौहिणी सेना के साथ युद्ध

क्षेत्र में उतरे थे। किन्तु युद्ध के अन्तिम दिन कौरवों के केवल तीन महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य एवं कृतवर्मा ही शेष बचे। धृतराष्ट्र के समस्त पुत्र पौत्रादि युद्ध में मारे गये। केवल महाराज धृतराष्ट्र एवं उनका वैश्य जातीय दासी से उत्पन्न एक पुत्र युयुत्सु ही शेष बचे।

ऐसे ही पाण्डव पक्ष से जो सात अक्षौहिणी सेना लड़ी थी, उसमें से युद्ध के अन्तिम दिन केवल पाँचों भाई पाण्डव शेष बचे थे। द्रौपदी एवं कुन्ती तो नारी होने के कारण शेष बची थी हीं। द्रौपदी के पाँचों पुत्र मारे गये। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु तो चक्रव्यूह के युद्ध में ही मारा जा चुका था। सृञ्जय पक्ष (अर्थात पांचाल जाति के क्षत्रियों के पक्ष) का भी कोई शेष नहीं बचा था। यादव पक्ष के केवल भगवान् कृष्ण एवं सात्यिकि ही बच रहे थे।

युद्ध के पश्चात् अपने कुल का इतना बड़ा विनाश देखकर महाराज युधिष्ठिर ने कुरुदेश (भारत) के राज सिंहासन पर बैठने से नोकार (धिक्कार) कर दिया और उन्होंने वन में जाकर तपस्या करने का निश्चय किया। किन्तु भगवान् कृष्ण एवं मुनि वेदव्यास आदि के समझाने पर महाराज युधिष्ठिर किसी प्रकार भारत के राज सिंहासन पर बैठने के लिए उद्यत हुए और भारत मे पुनः धर्म का शासन प्रारम्भ हुआ।

महाराज परीक्षित का जन्म :

महाराज युधिष्ठिर के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् महाराज अर्जुन की पुत्र वधू अभिमन्यु की धर्मपत्नी उत्तरा ने परीक्षित को जन्म दिया। परीक्षित एक मृत बालक के रूप में जन्में। इस पर समस्त पाण्डवों के समक्ष अन्धकार छा गया, किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने कौशल या योगबल से परीक्षित को जीवित कर दिया।

अश्वमेध यज्ञ :

अब मुनि वेदव्यास की आज्ञा से महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ करके अपने भारत के सम्राट पद का नवीनीकरण किया और धर्मानुसार भारत पर शासन करने लगे। इस प्रकार पुनः भारतवर्ष के इतिहास में स्वर्ण युग का आरम्भ हुआ। महाराज युधिष्ठिर एवं उनके भाइयों के सुशासन से अल्पकाल में ही सम्पूर्ण भारतवर्ष एक पूर्ण सम्पन्न देश बन गया।

बहुमूल्य धातुओं एवं रत्नों का देश :

कृषि एवं शिल्प आदि की उन्नति तो महाराज युधिष्ठिर के काल में हुई ही। उनके शासन काल में सबसे बड़ी बात यह हुई कि गिरिराज हिमालय प्रभृति भारत के पर्वतों पर उन्होंने वहुत ही बहुमुल्य धातुओं और रत्नों की खानों की खोज करवायी तथा इन खानों को खुदवाकर उनसे इतनी अधिक बहुमूल्य धातुएँ एवं इतने अधिक रत्न प्राप्त

करवाये कि रत्नों एवं बहुमूल्य धातुओं की दृष्टि से भारतवर्ष संसार में समृद्धतम देश बन गया। महाभारत महाकाव्य (पुराण) में महाराज युधिष्ठिर द्वारा भारतवर्ष के पर्वतों पर बहुमूल्य धातुओं एवं रत्नों की खानों की खोज करवाने तथा उनके खुदवाने की बात सीधे शब्दों में न लिखकर एक लाक्षणिक कथा के रूप में लिखी गयी है, जिसे मरुत्त नरेश की कथा कहते हैं।

मरुत्त नरेश त्रेतायुग के आदि में हुए और स्वयं देवराज इन्द्र के प्रतिस्पर्धी थे। जैसे महाराज बृहस्पति इन्द्र के पुरोहित थे, वैसे ही उनके भाई सैवर्त्त मरुत्त के पुरोहित थे। महाराज मरुत्त ने भारत के गिरिराज हिमालय प्रभृति पर्वतों पर बहुत से यज्ञ करवाये। इन यज्ञों में उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं एवं असंख्य रत्नों का व्यवहार किया। उन्होंने इतने अधिक परिमाण में बहुमूल्य धातुओं एवं इतनी बड़ी संख्या में बहुमूल्य रत्नों का दान किया कि ऋषि मुनि एवं ब्राह्मण उसे अपने घर नहीं ले जा सके और उनके काल में जनता भी इतनी समृद्ध हो गयी थी कि उसने इन बहुमूल्य धातुओं और रत्नों को जहाँ का तहाँ पड़ा रहने दिया, किसी ने छुआ नहीं । महाराज युधिष्ठिर ने इन धातुओं और रत्नों की खोज करवायी तथा उन्हें प्राप्त करवाया।

स्कन्ध 'ग्यारह'

"सच्ची कृष्ण लीला"

कृष्ण शब्द का अर्थ काला तो होता ही है, किन्तु धातु की दृष्टि से विद्वानों ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है "कृषधातु" का अर्थ होता है, खींचना। अतः कृष्ण उस महाशक्ति को कहते हैं, जो इस सारे संसार को कल्प के अन्त में अपने में खींच लेती है या लीन कर लेती है अर्थात् संसार का अन्त हो जाने पर केवल कृष्ण तत्व ही शेष बचता है, जो अपने में समस्त संसार को खींच लेता है, अर्थात् सारे संसार का उसमें विलय हो जाता है। यही "कृष्ण लीला" है। जो प्रत्येक कल्प के अन्त में बराबर होती रहती है।

किन्तु हमने इस स्कन्ध का नाम "सच्ची कृष्ण लीला" लिखा है। पाठक पूछ सकते हैं कि तुमने इसका नाम "सच्ची कृष्ण लीला" क्यों रखा? हमारा "सच्ची कृष्ण लीला" नाम देने का कारण स्पष्ट है, जो निम्नांकित है–

बात यह थी कि भगवान् कृष्ण एक अवतार तो थे ही, किन्तु नर रूप में अवतार ग्रहण करने के कारण वे एक मनुष्य भी थे और उनकी एक जाति भी थी, जो गोप या यादव जाति कहलाती थी, उनके बन्धु बान्धव भी थे, जो उनके "स्व" या अपने कहलाते थे। मनुष्य के लिए अपनों के साथ पक्षपात सर्वथा स्वाभाविक ही है। अतः यदि कृष्ण भगवान् मनुष्यों के समान ही आचरण करते तो उन्होंने उसी प्रकार अपने गोप जाति का विनाश न करा दिया होता, जैसे कि उन्होंने अन्यायी एवं अत्याचारी कौरवों का महाभारत महायुद्ध में करा दिया। अन्यायी एवं अत्याचारी कौरवों का विनाश तो भगवान् कृष्ण ने इसीलिए कराया कि वे अन्याय एवं अत्याचार के मार्ग पर इतना अग्रसर हो चुके थे कि उन्हें सुधारा नहीं जा सकता था और उनका एक भारतव्यापी महायुद्ध द्वारा विनाश करा दिया जाना ही आवश्यक था। किन्तु जैसे कौरव अन्यायी एवं अत्याचारी हो गये थे, वैसे ही भगवान् कृष्ण के "स्व" एवं स्वजातीय गोप भी अन्यायी एवं अत्याचारी हो गये थे। बात यह थी कि भगवान् कृष्ण के सुशासन के कारण गोप जाति बहुत ही बलिष्ट एवं बहुत ही समृद्ध हो गयी थी, परिणामतः गोपों में वे सभी दुर्गुण उत्पन्न हो गये थे, जो एक बलिष्ट एवं समृद्ध पुरुष में होते हैं। गोप लोग बहुत दुराचारी हो गये थे एवं सुतराम मदिरा पीने लग गये थे और किसी भी ऋषि-मुनि या धर्मात्मा महापुरुष को वे कुछ समझते नहीं थे। गोप बड़े से बड़े ऋषि-मुनि का अपमान करने से या उनका परिहास करने से नहीं चूकते थे।

महाभारत महायुद्ध के मुषल (मौसल) पर्व के अनुसार एक बार कुछ परिहासार्थी दुष्ट गोप युवकों ने भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब के पेट पर एक लोहे का मुसल इस प्रकार

बाँध दिया कि साम्ब एक गर्भवती स्त्री के समान दृष्टिगोचर होने लगे और फिर उन्हें ले जाकर उस काल के ऋषियों-मुनियों के समक्ष उपस्थित किया तथा उनसे कहा, "महाराज, आप लोग तो भविष्य ज्ञानी या सर्वज्ञ होते हैं। आप लोग बतलायें कि इस स्त्री के गर्भ में क्या है? इस स्त्री का पति पुत्र के लिए बहुत लालायित रहता है। ऋषियों को गोप युवकों की ऐसी असभ्यता बहुत ही खली और उन्होंने कहा, "मुर्खों, इस स्त्री के गर्भ में एक मुसल है, जिससे समस्त गोप जाति का विनाश हो जायेगा।" जब यह बात भगवान् कृष्ण को ज्ञात हुई, तो वे गोपों की इस असभ्यता से बहुत ही दुःखी हुए और उन्होंने निश्चय किया कि "ऐसी असभ्य गोप जाति का अब विनाश करा ही दिया जाना चाहिए। यद्यपि भगवान् कृष्ण ने द्वारका साम्राज्य के अन्तर्गत मदिरा बनाने वाले सभी उपक्रमों को बन्द करा दिया था, फिर भी गोप लोग लुक-छिप कर मदिरा पान करते ही रहे। जैसे साधारण मनुष्य अपने पुत्र पौत्रादि अर्थात् अपनों एवं अपनी जाति वालों का पक्षपात करते हैं वैसे ही भगवान कृष्ण ने पक्षपात नहीं किया और अपने "स्व" एवं स्वजातीय गोपों का उसी प्रकार विनाश करा दिया, जैसे उन्होंने अन्यायी एवं अत्याचारी कौरवों तथा उनके साथी दुष्ट नरेशों का महाभारत महायुद्ध में करा दिया था और इस प्रकार अपने सांसारिक जीवन में "सच्ची कृष्ण लीला" का प्रदर्शन किया।

गोप जन नेताओं का विनाश हुआ कैसे ?

हुआ यह कि भगवान कृष्ण के जीवन के अन्तिम दिनों में द्वारका में बड़े-बड़े प्राकृतिक उत्पात होने लगे। समुद्र में बार-बार भयंकर ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगीं थी और ऐसा प्रतीत होता था मानों वह समस्त द्वीप जिस पर द्वारका बसा हुआ था अब समुद्र में डूबा कि तब। विद्वानों ने यह देखकर जान लिया कि द्वारका का द्वीप शीघ्र ही समुद्र में डूब जायेगा। द्वारका में एक ओर तो भयंकर प्राकृतिक उत्पात हो रहे थे और दूसरी ओर लोग रात में भयंकर दुःस्वप्न देखने लगे थे। लोगों को दिन ही में काल जैसी भयंकर आकृतियाँ अपने घरों में घूमती-फिरती दिखलायी पड़ती थीं एवं श्रृंगाल जैसे अशुभ जीव दिन ही में लोगों के घरों में घुसने और हु-हुंवाने लग गये थे।

इन सब बातों को देखकर भगवान् कृष्ण ने एक दिन द्वारकावासियों से कहा कि "सभी गोप जन नेता एवं महिलाएँ प्रभास क्षेत्र में एकत्र हों और कल वहाँ से इन अपशकुनों के शमनार्थ तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान किया जाय।"

तदनुसार सभी गोप जन नेता अपनी स्त्रियों के साथ प्रभास क्षेत्र में एकत्र होने लगे। बस, अब गोप जाति के विनाश की घड़ी आ पहुँची।

बात यह हुई कि प्रभास क्षेत्र में जो गोप जननेता एकत्र हुए थे, वे एक-दूसरे के भयंकर विरोधी थे। इन जन नेताओं में एक ओर जहाँ वृष्णिवंशीय जननेता थे जो भगवान् कृष्ण के समर्थक थे और महाभारत महायुद्ध में भगवान् कृष्ण एवं पाण्डवों की ओर से लड़े थे, वहीं भोज और अन्धक वंशीय दूसरे जननेता भी थे, जो महाभारत महायुद्ध में

कौरवों की ओर से भगवान् कृष्ण और पाण्डवों के विरुद्ध लड़े थे। ये जननेता मदिरा के आवेश में परस्पर कहा सुनी करने लगे तथा एक पक्ष की निन्दा करना और उसे चिढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उदाहरणार्थ भगवान् कृष्ण के सेनापति सात्यकि ने कृतवर्मा को चिढ़ाते हुए कहा, ''तुमने महाभारत महायुद्ध के अट्ठारहवें दिन रात में निःशंक सोती हुई पाण्डव सेना को जो जलाकर मार डाला, उसे वीर व पुरुष कभी क्षमा नहीं कर सकते हैं। इस पर कृतवर्मा ने कहा, ''तुमने जो बाहों के कट जाने से मरणान्त अनशन पर बैठे हुए भूरिश्रवा को मार डाला वह क्या कम जघन्य कार्य था?'' इसी प्रकार गोप जननेता एक-दूसरे की निन्दा करने लगे। फलतः परस्पर झगड़ा होने लगा और इस झगड़े ने बड़ा भीषण रूप धारण कर लिया। समीप ही एरका नामक एक घास का जंगल था, जिसके डण्ठल ईखों के समान लम्बे और मोटे थे। इन एरका के डण्ठलों को उखाड़-उखाड़कर गोप जननेता एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे। इस एरका घास का आघात लोहों के मुसलों के समान होता था, परिणामतः यादव बिना प्रभास क्षेत्र से हटे एक-दूसरे को मारने लगे और अन्त में सभी यादव मर गये। जब भगवान् कृष्ण के पुत्र एवं पौत्रादि भी इस झगड़े में मार डाले गये, तो उन्हें भी क्रोध आ गया और फिर तो उन्होंने स्वयं अपने शस्त्रास्त्रों से समस्त दुष्ट यादव जन नेताओं का विनाश कर दिया। इस प्रकार प्रभास क्षेत्र में समस्त यादव जन नेताओं का विनाश हो गया।

बलराम जी का देह त्याग :

श्री बलराम जी यह दृश्य देखकर समुद्र तट की ओर जाकर एक वृक्ष के नीचे बैठे गये। भगवान कृष्ण उन्हें खोजते-खोजते वहीं उनसे मिले। फिर उनसे यह कहकर कि मैं प्रभास क्षेत्र में आयी हुई यादव महिलाओं की रक्षा की व्यवस्था करने के लिए कुछ देर के लिए द्वारका जा रहा हूँ, और वहाँ से आकर आप से पुनः मिलूँगा। द्वारका चले गये, वहाँ उन्होंने अपने पिता श्री वासुदेव जी से सब कुछ बतलाया और उन्हें तथा समस्त रोती हुई यादव महिलाओं को सांत्वना देते हुए कहा, ''मैंने सारथि दारुक को हस्तिनापुर भेज दिया है। अर्जुन एकाध ही दिनों में आकर तुम लोगों की रक्षा की उचित व्यवस्था करेंगे, वे जैसा कहें वैसा ही तुम लोग करना। ''इस प्रकार यादव महिलाओं तथा श्री वसुदेव जी को समझा-बुझाकर भगवान् कृष्ण पुनः वहीं लौट आये, जहाँ उन्होंने बलराम जी को एक वृक्ष के नीचे छोड़ा था। बलराम जी ने उसी वृक्ष के नीचे प्राणायाम द्वारा अपना शरीर त्याग दिया।

भगवान कृष्ण का स्वधाम गमन :

अतिश्रान्त भगवान कृष्ण भी वन में कुछ वृक्षों के नीचे जाकर लेट गये, जहाँ एक बधिक ने एक जंगली पशु समझकर उन पर शर चला दिया, जिसके आघात से अन्ततोगत्वा वे भी स्वधाम को सिधारे। इस प्रकार प्रभास क्षेत्र में समस्त यादव जन नेताओं का विनाश हो गया।

(105)

अर्जुन का द्वारकापुरी में पहुँचना :

भगवान् कृष्ण अपने स्वधाम गमन के पूर्व ही अपने सारथी दारुक को हस्तिनापुर भेज चुके थे और अर्जुन को कहला दिया था अब जब यादव जन नेताओं का सर्वनाश हो गया है, तब तुम अति शीघ्र हस्तिनापुर से द्वारकापुरी पहुँच जाओ और मेरी सोलह सहस्र एक सौ आठ विधवा रानियाँ एवं प्रभास क्षेत्र के पारस्परिक झगड़े में मारे जाने से बचे हुए मेरे वज्रादि पौत्र राजकुमारों तथा अन्य वृष्णि वंशियों और उनसे सम्बद्ध लोगों की सुरक्षा की व्यवस्था के लिए आवश्यक कार्यवाही करो।''

तदनुसार ही अर्जुन हस्तिनापुर से द्वारकापुरी पधारे और उस नगरी की अवस्था देखकर शोकावेश से अचेत से हो गये। वे श्री वसुदेव जी से मिले, जो भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। श्री वसुदेव जी ने अर्जुन से मिलने के पश्चात् प्राणायाम के द्वारा अपने देह का त्याग कर दिया। अर्जुन ने श्री वसुदेव जी तथा प्रभास क्षेत्र में मारे गये सभी वृष्णि वंशियों की अन्तेष्टि की। तत्पश्चात् वे प्रभास क्षेत्र के झगड़े में मारे जाने से बचे हुए वृष्णि वंशीय यादवों, महिलाओं तथा भगवान की सोलह सहस्र एक सौ आठ विधवा रानियों आदि को एक बड़े भारी सार्थ काफिला या कारवाँ के रूप में साथ लेकर द्वारका से इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थित हो गये। भगवान के पौत्र वज्रादि राजकुमार भी अर्जुन के साथ ही इन्द्रप्रस्थ प्रस्थित हुए। इन सबके प्रस्थित होते ही द्वारकापुरी, जिसे उन्होंने पहले रिक्त करा दिया था, एक भयंकर शब्द के साथ समुद्र में डूब गयी और इस प्रकार भगवान् कृष्ण के यादव साम्राज्य का विश्रावल–सा हो गया।

मार्ग में जब अर्जुन अपने इस बड़े भारी सार्थ के साथ पंचनद देश को पार कर रहे थे, तभी आभीर (अहीर) जाति के लुटेरों ने अर्जुन के इस बड़े सार्थ पर आक्रमण कर दिया और सबको सुतराम लूटा। अर्जुन को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे अपने जिस गाण्डीव धनुष की सहायता से बड़े–बड़े समरों में बराबर विजय प्राप्त करते रहे, वही गाण्डीव धनुष व्यर्थ हो गया और अर्जुन अपने गांडीव की सहायता से अपने सार्थ की रक्षा नहीं कर सके तथा अपनी इस हीनावस्था पर रोने लगे। पंचनद देश में मुनि वेदव्यास का एक आश्रम था। अर्जुन जब उस आश्रम पर पहुँचे तो मुनि वेदव्यास ने 'जो उस समय उपस्थित थे', अर्जुन को बतलाया, ''ईश्वर के विधान के अनुसार बस आज ही तक तुम अपने गाण्डीव धनुष से दुर्जनों का संहार कर सकते थे। अब स्यात् तुम्हारा या तुम्हारे भाइयों के बल का अन्त हो चुका है, अतः तुम लोगों को संसार का त्यागकर देने का प्रक्रम करना चाहिए। पाण्डवों द्वारा संसार के त्याग के विषय में स्कन्ध बारह में महाप्रस्थानित पर्व शीर्षक के नीचे पढ़िये।

पार्थ या अर्जुन की इस श्रीहीनता या दुर्बलता को दृष्टिगत करके हिन्दी में एक अच्छी लोकोक्ति प्रचलित है, जो इस प्रकार है–

''पुरुष नहीं बलवान है, समय होत बलवान।
सार्थ लुट गया पार्थ के, धरे रह गये बान।''

अर्थात् पुरुष बलवान नहीं होता समय ही बलवान होता है। ऐसा समय भी आ पड़ सकता है, जब बलिष्टतम् पुरुष का भी बल व्यर्थ हो जाता है। देखिये डाकुओं ने पार्थ या अर्जुन के सार्थ या काफिले को लूट लिया और उनके बाण जो कि कुछ ही क्षणों में सहस्रों डाकुओं का बल व्यर्थ कर सकते थे, निष्फल हो गये।

वृष्णिवंशियों का नया राज्य :

अर्जुन ने यादव कुमारों और विधवा महिलाओं तथा वृष्णिवंशीय यादव कुमारों सेवकों वाले सार्थ या कारवाँ को महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से इन्द्रप्रस्थ के समीप बसा दिया और भगवान् कृष्ण के पौत्र राजकुमार वज्र को उनका राजा बना दिया।

अब राजकुमार वज्र इन्द्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाकर वृष्णिवंशियों पर शासन करने लगे। वृष्णि वंश वही वंश था, जिसमें भगवान कृष्ण प्रधान पुरुष थे।

महाराज अर्जुन के पौत्र महाराज परीक्षित भारत के सम्राट के रूप में हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाकर वहीं से शासन करने लगे।

यादवों की विधवा महिलाओं में से कुछ ने तो वन में जाकर तपस्या करनी प्रारम्भ कर दी और वहीं अपने शरीरों का त्याग किया। किन्तु अधिकांश महिलाएँ वज्र के नये राज्य में अपने पुत्रों, पौत्रों के साथ जीवन व्यतीत करने लगीं।

द्वारका के यादव साम्राज्य का अन्त :

द्वारका के समुद्र में डूब जाने पर यादवों के राज्यों का संघ, जिसका केन्द्र द्वारकापुरी था, अब समाप्त हो गया तथा अब संघ के सभी राज्य अलग अलग हो गये और क्षीर सागर के तट पर सैकड़ों छोटे-छोटे स्वतन्त्र यादव राज्य उदित हो गये।

भगवान् कृष्ण ने यदि चाहा होता, तो यादवों का राज्य संघ विघटित नहीं हुआ होता। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भगवान् कृष्ण को जैसे अन्यायी एवं अत्याचारी कौरवों और साथी नरेशों का विनाश अभीष्ट था, वैसे ही अन्यायी एवं अत्याचारी हो गये अपने यादवों का विनाश भी अभीष्ट था।

मौसल पर्व :

भगवान् कृष्ण के द्वारका साम्राज्य के विश्रृंखलित हो जाने एवं द्वारका के समुद्र में डूब जाने की कथा महाभारत के जिस पर्व में दी गयी है, उसका नाम "मौसल पर्व" है। उस पर्व का "मौसल" नाम इसलिए रखा गया है कि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, असभ्य यादव युवकों ने ऋषियों के समक्ष भगवान् कृष्ण के पुत्र साम्ब के पेट पर एक मुसल बाँधकर उसे एक गर्भवती स्त्री के रूप में उपस्थित करके उनसे परिहासार्थ कहा था, कि महाराज आप लोग सर्वज्ञ होते हैं, कृपया आप बतलायें कि इस स्त्री के गर्भ में क्या है?

ऋषियों ने यादवों के इस असभ्य व्यवहार पर खिन्न होकर कहा था कि मूर्खों इस स्त्री के गर्भ में एक मुसल है, जिससे तुम समस्त यादवों का विनाश हो जायेगा। तदनुसार ही जब प्रभास क्षेत्र में यादवों से परस्पर झगड़ा होने लगा और वे एरका नामक ईख जैसी

एक घास के डण्ठलों से एक-दूसरे पर आक्रमण करने लगे, तो ऋषियों के श्राप के कारण वह एरका नामक घास के डण्ठलों से यादवों पर लोहे के मुसल के समान आघात होने लगा। परिणामतः सभी यादव मर गये। यतः ऋषियों के शाप के कारण एरका घास लोहे का मुसल बन गयी थी, जिससे समस्त यादवों का विनाश हुआ था। अतः महाभारत के इस पर्व का नाम ''मौसल पर्व'' रखा गया।

महाप्रास्थानिक पर्व :

महाभारत के मौसल पर्व के समान ही उसका महाप्रास्थानिक पर्व भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस पर्व में बतलाया गया है कि ''जब भगवान् कृष्ण ने अपनी यादव जाति या गोप जाति की दुष्टता से खिन्न होकर यही उचित समझा कि,''जैसे मैंने कौरवों का महाभारत महायुद्ध में विनाश करा दिया है, वैसे ही इन अन्यायी एवं अत्याचारी यादवों का भी विनाश करा दूँ और तदनुसार ही उन्होंने ऐसा उपाय रचा कि प्रभास क्षेत्र में एक-दूसरे के विरोधी यादव तीर्थयात्रा के बहाने एकत्र हुए और वहीं परस्पर झगड़ा करके विनष्ट हो गये। अन्त में स्वयं बलराम और भगवान् कृष्ण भी स्वधाम को सिधारे।

जब पाण्डवों को ये सारी बातें ज्ञात हुई तो उनके लिए अब इस संसार में कोई रस नहीं रह गया, क्योंकि भगवान् कृष्ण ही तो पाण्डवों के सब कुछ थे, जब वे ही नहीं रहे, तो भला पाण्डव इस संसार में कैसे रह सकते थे।

पाण्डवों ने यादवों के विनाश का समाचार जानकर निश्चय किया कि हम लोग भी अब इस संसार को त्याग दें। पाठकों को स्मरण होगा कि द्वारकापुरी के समुद्र में डूब जाने के पश्चात् जब अर्जुन भगवान् कृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ तथा प्रभास क्षेत्र में मारे जाने से बचे हुए वृष्णि जातीय राजकुमारों आदि के साथ द्वारका से इन्द्रप्रस्थ जा रहे थे, उसी प्रसंग में पंचनद देश को पार करते हुए अर्जुन के साथ कारवाँ या काफिले को डाकुओं ने लूट लिया। अर्जुन के व्यास मुनि के पंचनद देशस्थ आश्रम में पहुँचने पर व्यास जी ने उन्हें उपदेश दिया था कि ''अर्जुन, अब तुम्हारा तथा तुम्हारे भाइयों का कार्य इस संसार में पूरा हो चुका है। अतः तुम लोग संसार का परित्याग कर दो। मुनि वेदव्यास इस उपदेश के अनुसार पाण्डवों ने संसार का त्याग करने का निश्चय किया।

किन्तु संसार का त्याग किया कैसे जाये ?

इसके लिए द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डवों ने मिलकर निश्चय किया कि ''हम लोग पहले समस्त तीर्थों की यात्रा करें, फिर हिमालय पर्वत के सबसे ऊँचे शिखर पर चढ़ना प्रारम्भ करें, क्योंकि कुछ पुराणों के अनुसार गिरिराज हिमालय का शिखर स्वर्ग तक चला गया है। हिमालय पर्वत के शिखर पर चढ़ने के इस कार्य को पाण्डवों ने ''महाप्रस्थान'' संज्ञा दी। निश्चय यह हुआ कि समस्त तीर्थों का भ्रमण कर लेने के पश्चात् अन्त में हिमालय पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ा जाय। शिखर पर तब तक चढ़ते-चढ़ते चले जायें जब तक थककर स्वयं न गिर जायें और गिर जाने के पश्चात् प्राणायाम द्वारा अपने शरीर का त्याग कर दें। यह भी निश्चय हुआ कि जो गिर जाये उसकी ओर कोई घूमकर न देखें। हुआ यही।

पुराणों में इस महाप्रस्थान का वर्णन बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद ढंग से किया गया है, जो इस प्रकार है–जब द्रौपदी के साथ पाँचों भाई पाण्डव पर्वत के शिखर पर चढ़ने लगे तब सबसे पहले द्रौपदी गिरी, फिर क्रमशः सहदेव, नकुल, अर्जुन और सबके अन्त में भीम गिरे। किन्तु युधिष्ठिर बिना गिरे शिखर पर चढ़ ही गये। उनके साथ एक कुत्ता भी चल रहा था। पुराणों के अनुसार जब महाराज युधिष्ठिर चढ़ते-चढ़ते शिखर का अन्त कर चुके तो स्वर्ग का प्रवेश द्वार अब उन्हें दिखलायी पड़ने लगा और स्वर्ग के अधीश्वर भगवान् इन्द्र स्वयं अपने विमान के साथ महाराज युधिष्ठिर को लेने के लिए वहाँ उपस्थित हो गये एवं उन्हें विमान पर बैठाकर स्वर्ग ले जाने के लिए उद्यत हुए।

यहाँ पर यह बात बतला दी जानी चाहिए कि महाराज इन्द्र ने जब महाराज युधिष्ठिर से कहा कि, आप विमान पर बैठें और स्वर्ग लोक को चलें, तो उन्होंने कहा, यह मेरा कुत्ता भी मेरे साथ चलेगा, क्योंकि मेरे चार भाई और द्रौपदी मेरा साथ नहीं दे सके, परन्तु इस कुत्ते ने मेरा साथ दिया है। "इस पर इन्द्र ने कहा, "स्वर्ग में कुत्ते को जाने की आज्ञा नहीं है।" इस पर महाराज युधिष्ठिर ने भी स्वर्ग में जाने से नोकार कर दिया। अन्त में वह कुत्ता अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। वह कुत्ता कुत्ता नहीं, वरन् स्वयं कुत्ते का रूप धारण किये हुए धर्म ही था। धर्म ने महाराज युधिष्ठिर की परीक्षा के लिए कुत्ते का रूप धारण किया था।

कथा में आगे कहा गया है कि स्वर्ग में भी जब इन्द्र के दूतों ने महाराज युधिष्ठिर को घुमाते-फिराते एक ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया, जो नरक का एक टुकड़ा ही था जहाँ भयंकर दुर्गन्ध फैल रही थी तथा लोगों के विलाप करने एवं चित्कार करने का शब्द सुनायी पड़ रहा था," वहाँ रोते हुए महाराज युधिष्ठिर के भाइयों ने उनसे कहा, "भइया, हम लोग नरक में बहुत कष्ट पा रहे हैं," बस उनकी वाणी को सुनते ही महाराज युधिष्ठिर ने देवदूत से कहा," बस, अब मैं यहीं रहूँगा, जहाँ मेरे समस्त भाई रह रहे हैं। इनको छोड़कर मैं स्वर्ग में नहीं जा सकता" तब भगवान इन्द्र ने वहाँ प्रकट होकर हँसते हुए उनसे बतलाया कि, महाराज युधिष्ठिर, यह तो मेरी माया थी। वास्तव में आपके भाई पहले ही स्वर्ग लोक में पहुँच चुके हैं। मैंने एवं धर्म दोनों ने आपकी परीक्षा लेने के लिए इस मायामय स्थान का सृजन किया था। अब शीघ्र ही वह मायामय स्थान स्वर्ग में परिणत हो गया। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर की अन्तिम परीक्षा भी पूरी हुई और वे सर्वोच्च प्रकार के स्वर्ग लोक में विराजे। ये बातें महाभारत के जिस पर्व में वर्णित है, उसे "महाप्रास्थानिक पर्व" कहते हैं।

अन्त में हम भगवान् कृष्ण के चरित्र को श्री सुदामा जी की कथा के साथ समाप्त करेंगे, जिससे प्रकट होता है कि भगवान् कृष्ण साधारण महापुरुषों जैसे ही महापुरुष नहीं थे, वे सचमुच ईश्वर ही थे। जैसे ईश्वर साधारण व्यक्ति से लेकर बड़े से बड़े महापुरुष के लिए भी समान ही हैं" वैसे ही भगवान् कृष्ण भी थे।

स्कन्ध 'बारह'

भगवान् कृष्ण का, मधुर व्यक्तित्व :

भगवान् कृष्ण यद्यपि अपने काल के संसार के प्रत्येक दृष्टि से सबसे बड़े महापुरुष थे, वे सबसे बड़े धर्मात्मा थे, सबसे अधिक तेजस्वी थे एवं सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न महापुरुष थे। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी उनका व्यक्तित्व बड़ा मधुर था। लोग बड़े लोगों का नाम ही सुनकर डरते हैं, उनके पास जाने का भला साहस भी कौन करें? परन्तु भगवान् कृष्ण के पास तुच्छ व्यक्ति बड़ी सुगमता से जा सकता था। तद्नुसार ही एक भिक्षुक ब्राह्मण बड़ी सरलता से उनके पास चला गया और उन्होंने उसे एक साधारण व्यक्ति जानते हुए भी उसका साधारण ही सत्कार नहीं किया, वरन् उसके पाँव तक पखारे। वह भिक्षुक ब्राह्मण श्री सुदामा जी थे।

श्री सुदामा :

श्री सुदामा एक सीधे-साधे सामान्य बुद्धि के ब्राह्मण थे, जिन दिनों भगवान् कृष्ण और बलराम "अवन्ती" (आधुनिक उज्जैन) में "सान्दीपनि" गुरु के घर विद्या प्राप्त करने गये थे, उन दिनों श्री सुदामा भी गुरु सान्दीपनि से विद्या प्राप्त कर रहे थे। एक दिन महाराज सान्दीपनि की धर्मपत्नी ने कृष्ण और सुदामा को आदेश दिया,–"तुम लोग वन में जाकर वहाँ से सूखी लकड़ियाँ तोड़ कर लाओ। "जब सुदामा के साथ भगवान् कृष्ण वन की ओर प्रस्थित हुए तो आचार्यानी (अर्थात् गुरु की धर्मपत्नी) ने सुदामा को कुछ चने दिये और उनसे कहा, "भूख लगने पर तुम लोग ये चने खा लेना।"

जब कृष्ण एवं सुदामा दोनों वन में पहुँचे और श्रीकृष्ण लकड़ियाँ तोड़ने के लिए एक वृक्ष पर चढ़ गये, उसी समय वृष्टि होने लगी, जिससे वातावरण शीतल हो गया और कृष्ण तथा सुदामा दोनों के दाँत कटकटाने लगे। सुदामा वृक्ष के नीचे थे। अतः वे आचार्यानी का दिया हुआ चना खाने लगे। जब श्रीकृष्ण ने वृक्ष के ऊपर से कहा,–"भैया क्या खा रहे हो, थोड़ा हमें भी दे दो, तो अपनी अवस्था के अनुसार साधारण बुद्धि वाले सुदामा ने झूठ बोल दिया और कहा 'अरे मै कुछ खा नहीं रहा हूँ, केवल, शीत से मेरे दाँत कटकटा रहे हैं।" वृष्टि के समाप्त हो जाने पर जब सुदामा और श्रीकृष्ण दोनो गुरुजी के घर पर पहुँचे तो वहाँ श्रीकृष्ण ने आचार्यानी से अपनी भूख की बात कही। आचार्यानी ने श्रीकृष्ण को चना न देने के कारण सुदामा को शाप दिया, "तुम ऐसे ही दरिद्र ही रहोगे।"

आगे चलकर श्रीकृष्ण तो द्वारका साम्राज्य के अधिपति बन गये, किन्तु सुदामा वैसे ही एक निर्धन ब्राह्मण ही रह गये। परन्तु उनके बालकपन के अवगुण दूर हो गये थे। वे एक सच्चे ब्राह्मण बन गये थे। वे ईश्वर का भजन किया करते थे और लोगों को सदुपदेश दिया करते थे तथा भिक्षाटन द्वारा अपनी धर्मपत्नी की जीविका चलाते थे। त्याग एवं

तपस्या के कारण उनके शरीर का तेज बहुत बढ़ गया था। श्री सुदामा जी तो देश-काल का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते थे किन्तु उनकी धर्मपत्नी बड़ी बुद्धिमती थीं। वे भगवान् कृष्ण के विषय में सब कुछ जानती थीं और उनके मधुर स्वभाव से भी परिचित थीं। अतः उन्होंने एक दिन सुदामा को श्रीकृष्ण के पास किसी प्रकार द्वारका जाने के लिए विवश किया। श्री सुदामा ब्राह्मणों के धर्म-कर्म के अतिरिक्त साधारण नीति की बातें भी नहीं जानते थे। उन्होंने सुना था कि जब किसी सम्राट या नरेश से मिला जाय, तो उसे कुछ भेंट भी देनी चाहिए। अतः उन्होंने श्रीकृष्ण को भेंट में देने के लिए अपनी धर्मपत्नी द्वारा किसी पड़ोसी के घर से मंगवाकर थोड़ा सा चिउड़ा एक पोटली में बाँध लिया और उसे अपने काँख के नीचे दबाकर द्वारका चले। जब सुदामा जी द्वारका पहुँचे, तब उन्होंने सीधी-सादी भाषा में वहाँ के लोगों से पूछा, "भाई, श्रीकृष्ण का घर कौन है? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ, वे मेरे सहपाठी रहे हैं। "लोग ऐसे सीधे-सादे ब्राह्मण की बात सुनकर और इस प्रकार श्रीकृष्ण के घर का पता पूछते हुए सुनकर आश्चर्य के साथ मुस्कुराते थे। अन्त में वे भगवान् कृष्ण के महालय (महल) पर पहुँच गये। जब द्वारपाल ने श्री सुदामा की बातें सुनीं तो उसने जाकर भगवान् कृष्ण से निवेदन किया, "महाराज। एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण द्वार पर खड़े हैं। उनके पास उचित प्रकार के वस्त्र भी नहीं है। वे नंगे शिर एवं नंगे पाँव हैं। किन्तु उनके फटे-पुराने वस्त्रों में से उनके शरीर का तेज स्पष्टतया झलक रहा है। वे अपना नाम सुदामा बतला रहे हैं और अपने को आपका सहपाठी बतलाते हैं।

जब भगवान् कृष्ण ने सुदामा का नाम सुना, तब दौड़ते हुए द्वार पर पहुँचे और उन्हें अपनी गोद में उठा लिया तथा अपने महालय (महल) में ले जाकर उनके पाँव पखारे और फिर रोते हुए उनसे कहा,"हाय मित्र, तुम आज तक कहाँ भूले-भटकते से घूमते रहे, क्यों मेरे पास नहीं आये?

फिर भगवान् कृष्ण ने जब उनकी चिउड़ा की पोटली की ओर ध्यान दिया, तो परिहास के साथ कहा, "अरे भाई, तुम्हारा अभी पुराना स्वभाव छूटा नहीं। तुमने जैसे आचार्यानी का चना स्वयं खा लिया था और मुझे नहीं दिया था, वैसे आज भी तुम भाभी का दिया हुआ चिउड़ा अपनी काँख के नीचे दबाये हुए हो और मुझे दे नहीं रहे हो" यह कहते हुए कृष्ण ने हँसते हुए चिउड़ा की वह पोटली सुदामा की काँख में से खींच ली और हँस-हँसकर खाने लगे। अन्त में सुदामा को भगवान् कृष्ण ने धन-धान्य देकर उन्हें एक राजा जैसा ऐश्वर्यशाली बना दिया।

कहा जाता है कि श्री सुदामा भगवान् कृष्ण से इतना धन-धान्य पाकर प्रसन्न नहीं हुए, क्योंकि उनकी धारणा थी कि,"सुख सम्पत्ति पाकर मनुष्य ईश्वर के प्रति उदासीन हो जाता है।"

स्कन्ध 'तेरह'

अध्याय-एक

हम भगवान् कृष्ण के जीवन चरित्र का संक्षेप में वर्णन कर चुके हैं। अब हम भगवान् कृष्ण के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालेंगे जो उनके जीवन चरित्र के समान ही महत्वपूर्ण हैं।

दर्शनशास्त्र :

किन्तु भगवान् कृष्ण के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालने से पहले हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि दर्शनशास्त्र कहते किसे हैं?

प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों एवं विद्वानों से सुनता है कि इस समस्त जगत् को रचने वाली और सबकी स्वामिनी कोई एक महाशक्ति है जिसे ईश्वर या परमेश्वर आदि नामों से जाना जाता है। अब प्रत्येक मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि कितना ही अच्छा होता "यदि मैं ईश्वर का दर्शन कर सकता।" दर्शनशास्त्र में इसी बात पर विचार किया जाता है कि "ईश्वर का स्वरूप क्या है और उसका दर्शन कैसे हो सकता है।" इसीलिये इन विषयों पर प्रकाश डालने वाले शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है। दर्शनशास्त्र कितना महत्वपूर्ण है, यह बात इसी से स्पष्ट है।

किन्तु कुछ दर्शनशास्त्री ऐसे हैं जो ईश्वर का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि जब ईश्वर को हम अपनी किसी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जान सकते हैं तो उसका प्रमाण हो ही क्या सकता है। ऐसे दर्शनशास्त्रियों में साधारण दार्शनिक नहीं वरन् स्वयं भगवान् गौतम बुद्ध जैसे महापुरुष भी हैं। इन लोगों का कथन है कि हम ईश्वर को तो नहीं जान सकते हैं, किन्तु मनुष्य एवं जगत् को हम जानते ही हैं क्योंकि हम उन्हें देख रहे हैं। अतः इन्हीं के सम्बन्ध में हमें विचार करना चाहिए।

बहुत विचार करने के पश्चात् ये दर्शन शास्त्री इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य वास्तव में नित्य है, अविनाशी है एवं सुख-दुख से परे है। मनुष्य जड़ प्रकृति से या प्रकृति के अंशभूत अपने शरीर से सर्वथा भिन्न है, किन्तु वह जगत् के बंधन में पड़ गया है जिससे ठोकरे खा रहा है, किन्तु मनुष्य को इन ठोकरों से घबराना नहीं चाहिये। मनुष्य की इन ठोकरों का परिणाम यह होगा कि मनुष्य धीरे-धीरे अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने लगेगा कि वास्तव में ये सारा जगत् मेरा अपना ही स्वरूप है। जगत् के सारे मनुष्य मेरे भाई-भाई हैं। वरन् ये मुझसे और भी अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध हैं फलतः मनुष्य जगत के धार्मिक नियमों का पालन करते हुए रहने लगेगा अर्थात् वह सत्य, अहिंसा एवं अस्तेय (दूसरों का माल न हरना) आदि का पालन करने लगेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे जब मनुष्य अपने वास्तविक शरीर को भली-भाँति पहचान लेगा तो वह जगत् के बन्धन से मुक्त हो जायेगा और अपने वास्तविक स्वरूप में विराजने लगेगा।

कैसे मनुष्य यह जान लेगा कि "मैं जड़ प्रकृति से या अपने शरीर सें सर्वथा भिन्न हूँ एवं मैं नित्य तथा अविनाशी हूँ और सुख-दुख से परे आनन्द स्वरूप हूँ।

यह बात ऐसे दर्शनशास्त्रियों के दर्शनों को पढ़ने से ज्ञात होगी।

ईश्वर का अस्तित्व :

किन्तु हमारे बहुत से ऋषि-मुनि ऐसे हुए थे जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था। अतः ईश्वर के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण उनके वचन के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है एवं ईश्वर के स्वरूप के विषय में उनके वचनों से अधिक और दूसरी कौन-सी बात मान्य हो सकती है।

फिर भी हम प्रकारान्तर से भी ईश्वर के अस्तित्व पर विचार करेंगे, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व पर विचार करने से पहले विभिन्न दर्शनशास्त्रियों के दार्शनिक विचारों को जान लेना उचित होगा, जिससे कि ईश्वर के अस्तित्व की बात भली-भाँति समझ में आ जाये।

अतः हमने ईश्वर के अस्तित्व पर सब दर्शनों का संक्षिप्त मत जान लेने के पश्चात् अन्त में इस पुस्तिका के अध्याय 6 में "ईश्वर का अस्तित्व, शीर्षक के अन्तर्गत नीचे विचार किया है। पाठक अध्याय 6 पढ़ लें।

मनुष्य एवं जगत् की सृष्टि :

दर्शनशास्त्रों में ईश्वर के अतिरिक्त दूसरे जिस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया है वह है "मनुष्य और जगत की सृष्टि" इस महत्वपूर्ण विषय पर हमने सांख्य दर्शन के अध्याय तीन "ख" में "सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया, शीर्षक के नीचे विचार किया है अतः पाठक इसे वहीं पढ़ लें, अब हम आगे भगवान् श्रीकृष्ण के काल में प्रचलित दर्शनों पर विचार करना प्रारम्भ करेंगे। सबसे पहले हम न्याय दर्शन पर विचार करेंगे।

अध्याय-दो

न्याय दर्शन :

भगवान् कृष्ण के काल में यद्यपि सांख्य दर्शन और वेदान्त दर्शन जैसे बड़े पांडित्यपूर्ण विचार वाले दर्शन प्रचलित थे, किन्तु हम यहाँ सबसे पहले न्याय दर्शन की चर्चा करेंगे क्योंकि यह "प्राथमिक दर्शन" है। इसी कारण इसके विषय में पाठकों को पहले जान लेना चाहिये।

किन्तु न्याय दर्शन पर कुछ कहने के पहले हम न्याय शास्त्र और न्याय दर्शन के बीच भेद बतला देना उचित समझते हैं जिससे पाठकों को कोई भ्रान्ति न हो। कुछ लोग न्याय दर्शन और न्याय शास्त्र को एक ही मानते हैं, किन्तु यह उनकी भयंकर भूल है। वास्तव में न्याय दर्शन एक दर्शन है जिसमें ईश्वर क्या है? यह सृष्टि क्या है? प्रभृत्ति दार्शनिक

बातों पर विचार किया गया है, जबकि न्याय शास्त्र एक शास्त्र है जिसमें इस बात पर विचार किया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात कह रहा है तो उसका वह कथन मान्य है या नहीं। उदाहरण के लिये मान लीजिये कोई व्यक्ति सामने से आते हुए पुरुष को देखकर कहता है कि "वह पुरुष हिन्दू है क्योंकि उसके सिर पर लम्बी शिखा दिखलायी पड़ रही है।" अब न्याय शास्त्र के अनुसार विचारणीय है कि उस पुरुष का यह कथन मान्य है या नहीं, किन्तु जब हम जानते हैं कि सिर पर शिखा हिन्दू ही धारणा करते हैं मुसलमान या ईसाई आदि नहीं तो हम मान लेते हैं कि इस व्यक्ति का कथन मान्य है और सामने से आता हुआ पुरुष हिन्दू ही है।

अब पुनः मान लीजिये यदि कोई व्यक्ति कहता है कि सामने से आता हुआ पुरुष पढ़ा-लिखा है क्योंकि उसके हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक है। अब हम जब न्याय शास्त्र की दृष्टि से इस बात पर विचार करते हैं कि उस व्यक्ति का यह कथन मान्य है या नहीं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उस व्यक्ति का यह कथन कि सामने से आता हुआ पुरुष पढ़ा-लिखा है मान्य हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि किसी के हाथ में मोटी पुस्तक का होना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता है कि वह पढ़ा-लिखा है। ऐसा भी हो सकता है कि वह पुरुष पढ़ा-लिखा न हो और उसके हाथ में जो पुस्तक दिखलायी पड़ती है उसे वह अपने स्वामी के लिये या किसी और के लिये ले जा रहा हो।

इस प्रकार न्याय शास्त्र न्याय दर्शन से सर्वथा भिन्न हुआ। न्याय दर्शन ईश्वर क्या है, मनुष्य क्या है? जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करता है, जबकि न्याय शास्त्र इस बात पर विचार करता है कि कोई बात जो कही जा रही है वह सत्य है या मिथ्या।

न्याय शास्त्र को आधुनिक काल में तर्क शास्त्र कहना उचित होगा। अंग्रेजी भाषा में न्याय शास्त्र को लॉजिक्स कहते हैं, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र ही होता है।

न्याय शास्त्र और न्याय दर्शन का अन्तर समझने में जो भ्रम होता है उसका कारण यह है कि गौतम मुनि ने सबसे पहले जब अपने न्याय दर्शन के सिद्धान्तों की स्थापना की तो उनकी सत्यता एवं मिथ्यात्व को जानने के लिये तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों को भी अपने उस ग्रंथ में जोड़ दिया और बस, न्याय दर्शन एवं न्यायशास्त्र को एक ही समझा जाने लगा। आजकल न्याय शास्त्र को न्याय दर्शन का अनुमान खण्ड बतला कर उसका न्याय दर्शन से भेद किया जाता है।

न्याय दर्शन के सिद्धान्त :

न्याय दर्शन के रचयिता गौतम मुनि और उनके पश्चात् जो कणाद मुनि हुए वे दोनों ही बड़े वैज्ञानिक थे। उन्होंने ईश्वर को यह कहकर नहीं माना है कि "ईश्वर को हम किसी भी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जान सकते हैं। अतः उसका कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता है।"

किन्तु सृष्टि या जगत् की रचना के ऊपर उन्होंने पर्याप्त प्रकार से विचार किया उन्होंने जगत् में विद्यमान प्रत्येक प्रकार के पदार्थों का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उन्होंने

पाया कि जगत् के सभी पदार्थ परमाणुओं से ही बने हुए हैं। परमाणु किसी पदार्थ के उस छोटे से छोटे अणु को कहते हैं जिससे और आगे उसका खण्डन नहीं हो सकता है। उन्होंने बहुत निरीक्षण परीक्षण के पश्चात् यह भी देखा कि जगत् के सभी पदार्थ प्रायः कुछ ही परमाणुओं से बने हुए हैं। जगत् के पदार्थों में भी भिन्नता दिखलायी पड़ती है। उसका कारण यह है कि दो भिन्न पदार्थों में एक ही प्रकार के परमाणुओं की भिन्न-भिन्न क्रमों से व्यवस्था है या फिर वे दो प्रकार के परमाणुओं के मिश्रण से बने हुए हैं। आगे हम उन पदार्थों को जो एकाधिक परमाणुओं के मिश्रण से बने हुए हैं द्वणुक या त्रिसरेणुक आदि कहेंगे।

आजकल के वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात किया है कि जगत् के सभी पदार्थ एक सौ आठ ही प्रकार के परमाणुओं से बने हुए हैं।

"परमाणु नित्य एवं अविनाशी है" :

गौतम एवं कणाद ने आज से सहस्रों वर्षों पूर्व यह बात जान ली थी कि परमाणु नित्य एवं अविनाशी है। उन्होंने बतलाया कि जब हम किसी पदार्थ को जला देते हैं तो उसके स्थान में जो राख मिलती है उसका भार पदार्थ के प्रारम्भिक भार से बहुत कम होता है। अब साधारण लोग तो यही समझेंगे कि जब जलाने के पश्चात् पदार्थ की राख का भार पदार्थ के आरम्भिक भार से बहुत घट गया तो इसका अर्थ यही है कि जलाने के पश्चात् उस पदार्थ का कुछ भाग या अंश सर्वथा नष्ट हो गया, परन्तु वास्तविक बात यह है कि जलाने के पश्चात् पदार्थ का कुछ भाग वायु में मिल गया है। यदि हम पदार्थ के उस भाग का भार जो उसके जलाने के पश्चात् वायु में मिल गया है किसी प्रकार जान सकें तो हम यह पायेंगे कि पदार्थ की राख का भार एवं वायु में उसका जलाने के पश्चात् मिल गया हुआ भाग दोनों मिलाकर पदार्थ के प्रारम्भिक भार के बराबर ही होंगे। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि हम एक सौ ग्राम लकड़ी का एक टुकड़ा लेकर उसे जला देते हैं। हम देखेंगे कि लकड़ी की राख का भार एक सौ ग्राम से बहुत ही कम होगा। इसका कारण यह है कि लकड़ी का एक बड़ा भाग जलकर कार्बन डाईआक्साइड के रूप में परिणत होकर वायु में मिल गया है। यदि हम किसी प्रकार लकड़ी के उस कार्बन-डाई-आक्साइड का भार जान सकें तो हम पायेंगे कि लकड़ी के कार्बन-डाई-आक्साइड एवं लकड़ी की राख का सम्मिलित भार एक सौ ग्राम ही होगा। (जलाने के पश्चात् किसी पदार्थ का कुछ भार कार्बन डाई आक्साइड बनकर वायु में मिल जाता है।) आजकल विज्ञान की कक्षाओं में छोटे-छोटे बालकों को भी यह बात बतलायी जाती है कि जलाने के पश्चात् किसी पदार्थ का जितना भार हम नष्ट मान लेते हैं वह वास्तव में दूसरे प्रकार के परमाणुओं (कार्बन डाई आक्साइड) में परिणत हो जाता है। विज्ञान की छोटी-छोटी कक्षाओं में भी इसे प्रयोग द्वारा दिखला भी दिया जाता है। गौतम और कणाद ने इस सिद्धान्त का पता (कि परमाणु नित्य एवं अविनाशी है) आज से सहस्रों वर्ष पूर्व लगा लिया था।

द्वणुक एवं त्रिसरेणु :

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं कुछ पदार्थ दो तीन या अधिक परमाणुओं से बने होते हैं। ऐसे पदार्थों को द्वणुक या त्रिसरेणु आदि नामों से जाना जाता है। उदाहरण के लिये हमारा साधारण नमक सोडियम एवं क्लोरीन नामक दो प्रकार के परमाणुओं के मिश्रण से बना हुआ है। अत: वह द्वणुक है। जल भी जो हम पीते हैं वह द्वणुक ही है, क्योंकि वह हाइड्रोजन एवं आक्सीजन नामक गैसों के परमाणुओं के मिश्रण से बना हुआ है।

अध्याय-तीन 'क'

सांख्य दर्शन :

न्याय दर्शन के पश्चात् अब हम भगवान् कृष्ण के काल में सबसे अधिक प्रचलित सांख्य दर्शन पर चर्चा करेंगे।

सांख्य दर्शन के सिद्धान्त इतने उत्कृष्ट हैं कि स्वयं भगवान् कृष्ण ने उन्हें कुछ संशोधनों के साथ अपनी गीता में अपना लिया है। जैसा कि गीता के अध्याय सात के श्लोक (4) और (5) से स्पष्ट है। इन श्लोकों को हम आगे अर्थ सहित उद्धृत कर देंगे।

सांख्य दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त :

सांख्य दर्शन के आचार्यों ने निम्नांकित दो महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की–

(1) जगत् में कोई पदार्थ नया नहीं होता है। जो पदार्थ हम आज देख रहे हैं वह अवश्य ही सृष्टि के आरम्भ में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान था। पदार्थ का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। केवल उसका रूप बदल जाता है।

उदाहरणार्थ हम एक बड़ा भारी वृक्ष देख रहे हैं जिसमें सैकड़ों डालियाँ हैं और सहस्रों फल-फूल लगे हुए हैं। ये सब नये नहीं हैं वरन् वृक्ष के बीज में ही अति सूक्ष्म रूप में ही विद्यमान थे। बीज में से पहले अंकुर निकला फिर वह विकास करते-करते इस भारी डालियों और फल-फूलों वाले वृक्ष में परिणत हो गया।

सांख्य दर्शन के इसी सिद्धान्त को गीता में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है–

नासतो विद्यते भावो, ना भावो विद्यते सत:।

अर्थात् जो पदार्थ था ही नहीं वह उत्पन्न नहीं हो सकता है और जो पदार्थ है उसका विनाश नहीं हो सकता है।

मनुष्य का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता है। जब वह मरता है तो अपनी शेष अपूर्ण कामनाओं को पूरा करने के लिये वह पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जब मनुष्य की कोई कामना शेष नहीं रह जाती है, तब वह जगत् में आवागमन से अर्थात् जीने-मरने के क्रम में से मुक्त हो जाता है, परन्तु तब भी मनुष्य का अस्तित्व मुक्त जीव के रूप में शेष रहता है और शाश्वत शान्ति का भोग करता है।

सृष्टि या जगत् के दो मूल तत्व :

ऊपर हमने सांख्य दर्शन के 2 महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अब हम सृष्टि के दो मूल तत्वों के विषय में पाठकों को बतलायेंगे। ये दो तत्व हैं जीव और प्रकृति। इनमें से प्रकृति को तो हम भली-भाँति जानते हैं। सृष्टि या जगत् के सभी निर्जीव जड़ पदार्थ यथा भूमि, वायु, समुद्र, सूर्य और चन्द्रमाओं आदि को प्रकृति कहा जाता है, किन्तु जीव को हम देख नहीं सकते हैं। सजीव पदार्थों को अवश्य देख सकते हैं। मनुष्य पशु-पक्षी आदि सजीव पदार्थ हैं। सजीव पदार्थ वास्तव में जीव और प्रकृति के मिश्रण से बने होते हैं अर्थात् सजीव पदार्थों का जो शरीर होता है वह तो वास्तव में एक प्रकृति का ही अंग होता है। देह में जीव के होने के कारण ही देह सजीव प्रतीत होता है। जब देह में सजीव निकल जाता है तो वह निर्जीव परमाणुओं का एक ढेर सा बन जाता है। इस प्रकार सृष्टि या जगत में दो ही मूल तत्व हुए जो हैं (1) जीव या पुरुष और (2) प्रकृति। जीव को सांख्य की भाषा में पुरुष कहा जाता है। सभी मनुष्य पशु-पक्षी कीट पतंग आदि को पुरुष ही कहना या समझना चाहिये।

जीव या पुरुष और प्रकृति के स्वरूप

अब हम जीव या पुरुष और प्रकृति के स्वरूपों पर स्वल्प में प्रकाश डाल दें। पहले प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालेंगे।

प्रकृति जड़ परमाणुमयी एवं त्रिगुणात्मक है। परमाणुओं के विषय में हम न्याय दर्शन (अध्याय दो) में बतला चुके हैं। प्रकृति विभिन्न प्रकार के परमाणुओं से बनी हुई है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, इसके तीनों गुणों के नाम सत्व, रजः और तमः हैं। गुणों की उत्कृष्यवस्था का बोधक सत्व है और निकृष्टावस्था का बोधक तमः है। रजः गुणों की उत्कृष्यवस्था और निकृष्टावस्था के मध्य की अवस्था है। इन तीनों गुणों की न्यूनाधिकता से ही जगत के असंख्य पदार्थ निर्मित हुए हैं।

जीव या पुरुष अव्यक्त होते हैं तथा ईश्वर के समान ही नित्य, चेतन एवं ज्ञानी होते हैं, जीव और ईश्वर में भेद यह है कि जीव नित्य चेतन एवं आनन्द स्वरूप होने के साथ ही अल्पज्ञ और ईश्वर का वशवर्ती होता है, जबकि ईश्वर नित्य और आनन्दमय एवं ज्ञान स्वरूप है, ईश्वर सर्वज्ञ एवं स्वतंत्र है। जीव प्रकृति से या प्रकृति के अंग भूत अपने देह से सर्वथा भिन्न है–यह निम्नांकित बातों एवं उदाहरणों से स्पष्ट है–

जगत् में व्यक्तावस्था में किसी शरीर में रहते हुए मनुष्य को शरीर में होने वाले दुखों और कष्टों का अनुभव नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह वास्तव में अपने शरीर से सर्वथा भिन्न ही है। फिर भी जो मनुष्य शरीर में रहता हुआ कष्ट या दुःख का अनुभव करता है उसका कारण यह कि शरीर से भिन्न हुआ भी अपने को वह मोहवशात् शरीर का ही एक अंग मानता है।

(117)

यदि मनुष्य भली-भाँति समझ जाये कि वह अपने शरीर से सर्वथा भिन्न है तथा वह अपने को अपने शरीर से भिन्न समझने का अभ्यास भी करने लगे तो अन्त में ऐसी स्थिति आ जायेगी कि मनुष्य अपने शरीर में होने वाले दुःखों और कष्टों से तनिक भी दुखित या पीड़ित नहीं होगा, किन्तु ऐसी स्थिति तभी आ सकती है जब मनुष्य को इस बात की पूर्ण प्रतीति हो जाये कि वह अपने शरीर से सर्वथा भिन्न है और वह ऐसा अनुभव भी करने लगे तभी वह शरीर में होने वाले दुखों और कष्टों से प्रभावित नहीं होगा। केवल यह समझ लेने मात्र से कि वह अपने शरीर से सर्वथा भिन्न है, काम नहीं चलेगा। इस अनुच्छेद में पुरुष के स्थान में मनुष्य शब्द का प्रयोग हमने इसलिये किया है कि मनुष्य में ही अपने शरीर से अपने को भिन्न या पृथक् समझने का अभ्यास करने की बात करना सम्भव है।

कपिल मुनि के युग में सहस्रों ऐसे महापुरुष थे जो शरीर धारण करते हुए भी शरीर में होने वाले दुखों या कष्टों से तनिक भी दुखित या पीड़ित नहीं होते थे।

हम कपिल मुनि के युग की ही बात क्यों करें आज से लगभग 400 वर्ष पूर्व की बात है, सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव जी थे। तत्कालीन मुगल सम्राट् ने उनसे क्रुद्ध होकर उन्हें भयंकर यातनाएँ दीं। उसने गुरु जी को एक जल से भरे हुए बड़े पात्र में बैठवा दिया फिर उस पात्र को चूल्हे पर चढ़ाकर जल को पूर्णतया खौलवाया जिससे गुरुजी का शरीर उबाले हुए आलू के समान पिलपिला हो गया किन्तु गुरुजी ने खौलते हुए जल में बैठे हुए भी किसी प्रकार के कष्ट या दुख का अनुभव नहीं किया और वे खौलते हुए जल में गुरु ग्रन्थ साहब (सिक्खों के धर्मग्रंथ) के भजनों को गुनगुनाते रहे। अपरंच इसी उन्नीसवीं शताब्दी में हुए महर्षि दयानन्द के विषय में बतलाया जाता है कि वे अपने काल के राजाओं-महाराजाओं और ढोंगी धार्मिकों की बड़ी तीखी आलोचना किया करते थे। इससे खिन्न होकर इन राजाओं-महाराजाओं और ढोंगी धार्मिकों के चेले रात में सोते हुए महर्षि को नित्य मार डालने की चिन्ता में रहते थे। इन गुण्डों से रक्षार्थ महर्षि माघ की रात में भी नग्न शरीर एक कौपीन मात्र धारण किये हुए खुले हुए मैदान में (आकाश के नीचे) बैठे रहते थे और कष्ट का तनिक भी अनुभव नहीं करते थे। एक बार तो एक देशी नरेश की एक वेश्या ने महर्षि को किसी प्रकार विष दिलवा दिया। महर्षि विष की बात समय से न जान सकने के कारण उसका उपचार नहीं कर सके, किन्तु जब तक उन्हें अपने ऊपर में विष होने की बात ज्ञात हुई तब तक विष से उनकी अंतड़ियाँ बहुत घायल हो चुकी थीं, परिणामतः डाक्टरों को महर्षि के पेट का ऑपरेशन करना पड़ा। महर्षि ने बिना संज्ञा शून्यता या (बेहोशी) का इंजेक्शन कराये हुए ही डाक्टरों से अपने पेट का ऑपरेशन करा लिया और इसमें तनिक भी दुख या पीड़ा का अनुभव नहीं किया। उपर्युक्त बातों से जीव की शरीर से भिन्नता और उसका दुखों या कष्टों से परे स्पष्ट ही है।

सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया?

"सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया"–इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि हमारे वैदिक ऋषि इस प्रश्न का क्या उत्तर देते थे। बात यह है कि यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि हमारे वैदिक ऋषियों ने पहले ईश्वर क्या है? इस प्रश्न पर विचार किया और फिर उसके पश्चात् ही इस दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है। वह सांख्य दर्शन के आचार्यों को मान्य तो है ही फिर भी इन्होंने इस प्रसंग में कुछ और बातें भी लिख दी हैं।

अतः पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का हमारे वैदिक ऋषियों ने जो उत्तर दिया है उसे बतलायेंगे और तब "सांख्यों का मत" शीर्षक के नीचे इस सम्बन्ध में सांख्य दर्शन के आचार्यों ने जो कुछ विशेष कहा है इस पर प्रकाश डालेंगे।

सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया :

जैसा कि हमने ऊपर कहा है पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का जो उत्तर वैदिक ऋषियों ने दिया है उसे पहले यहाँ लिख रहे हैं। "सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया" इस प्रसंग में वैदिक ऋषियों में एक श्रुति प्रचलित है। जो इस प्रकार है–

तस्माद्वा-एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः। आकाशद्वायुः।
वायोरग्निः अग्नेरापः अदम्यः पृथिवी। पृथिव्याः अन्तरिक्षम्।

इस श्रुति का अर्थ भी बहुत स्पष्ट है, जो इस प्रकार है–

ईश्वर या ब्रह्म से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, फिर आकाश से वायु उत्पन्न हुई। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, फिर अग्नि से जल उत्पन्न हुआ और तब जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ। अन्तरिक्ष से तात्पर्य पृथ्वी और आकाश के बीच के स्थान से है।

ब्रह्म या ईश्वर से आकाश के उत्पन्न होने की बात का इतना ही अर्थ समझना चाहिये कि सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड जगत् हैं। एक विशेष ब्राह्मण या जगत् की उत्पत्ति असीम आकाश के जिस विशेष खण्ड में हुई, उसका पहले आकाश नाम से व्यवहार नहीं होता था। आकाश नाम का व्यवहार तो जगत् के उत्पन्न होने के पश्चात् से ही प्रारम्भ हुआ। अन्यथा आकाश तो पहले ही से विद्यमान था।

अब नीचे श्रुति की व्याख्या देते हैं :

प्रकृति परमाणुओं के रूप में आकाश में भरी हुई थी। सृष्टि रचना के समय इन परमाणुओं में गति या हलचल उत्पन्न हो गयी, जिसे वायु नाम दिया गया। गति के उत्पन

हो जाने से परमाणु यत्र-तत्र असीम आकाश में महागोलों के रूप में पुंजीभूत होने लगे। वायु के चलते ही रहने के कारण इन पुंजीभूत हुए महागोलों के परमाणुओं में घर्षण उत्पन्न हो गया, जिसके कारण प्रत्येक गोला आग के समान दहकने लगा। इस प्रकार असीम आकाश में करोड़ों सूर्य प्रकट हो गये। इसी बात को लक्ष्य करके कहा गया है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई।

अब जब असीम आकाश में करोड़ों सूर्य उत्पन्न हो गये तो इनमें विस्फोट हुआ और विस्फोट के होने से प्रत्येक सूर्य से कई लोक या संसार उत्पन्न हो गये, जो अपने-अपने सूर्यों के चारों ओर चक्कर काटने लगे। धीरे-धीरे ये लोक या संसार अपने सूर्य से दूर होने के कारण ठण्डे होने लगे और आग में जो गैसें भरी हुई थीं वे एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करने लगीं। इनमें से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नामक गैसें एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करके जल बन गयीं, तब यह जल सूर्य में से निकले हुए उपर्युक्त लोकों या संसार पर फैल गया। इसी से कहा गया है कि अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। अब जब जल प्रत्येक लोक या संसार पर फैल गया तो उसका जल से ढंका हुआ भाग पिचक गया और समस्त जल पिचकने से बने हुए महागर्त में एकत्र हो गया। इस प्रकार प्रत्येक लोक या संसार दो भागों अर्थात् सागर और स्थल में बँट गया। यहीं प्रत्येक लोक या संसार का आदिम रूप हुआ। इसी से कहा जाता है कि जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ।

"अन्तरिक्ष" पृथ्वी और आकाश के मध्य के रिक्त स्थान को कहते हैं।

पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उस पर आगे जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई?

इस विषय में स्यात् कोई श्रुति थी, जो लुप्त हो गयी है। अतः हमें पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति के विषय में जानने के लिये पुराणों की शरण लेनी होगी। पुराणों में सारांशतः कहा गया है कि समुद्रों के जल में पहले विष्णु भगवान् उत्पन्न हुए, फिर उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और तब उस कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, जिन्होंने सृष्टि की रचना प्रारम्भ की। ऐसे पौराणिक आख्यानों का तात्पर्य यही है कि जीवों की उत्पत्ति समुद्रों के जल में हुई। इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो बतलाया है, वह बहुत प्रमाणयुक्त होने से मान्य है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि उपर्युक्त प्रकार से पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के तीन अरब वर्षों के पश्चात् अर्थात् आज से लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर स्थित समुद्रों के जल में जीव छोटे-छोटे परमाणुओं के रूप में उत्पन्न हो गये और विकास करने लगे। यही जीवों के परमाणु विकास करते-करते आधुनिक काल के मानवों, पशुओं, पक्षियों और वनस्पतियों के रूप में हमें दिखलायी पड़ते हैं। हिन्दुओं की मान्यता है कि जीवों के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उनकी चौरासी लाखवीं योनि में आधुनिक प्रकार के जीव उत्पन्न हुए हैं। जीवों की अगली पीढ़ी उसकी पहली पीढ़ी से उन्नत प्रकार की होती

सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया?

"सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया"–इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि हमारे वैदिक ऋषि इस प्रश्न का क्या उत्तर देते थे। बात यह है कि यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि हमारे वैदिक ऋषियों ने पहले ईश्वर क्या है? इस प्रश्न पर विचार किया और फिर उसके पश्चात् ही इस दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है। वह सांख्य दर्शन के आचार्यों को मान्य तो है ही फिर भी इन्होंने इस प्रसंग में कुछ और बातें भी लिख दी हैं।

अतः पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का हमारे वैदिक ऋषियों ने जो उत्तर दिया है उसे बतलायेंगे और तब "सांख्यों का मत" शीर्षक के नीचे इस सम्बन्ध में सांख्य दर्शन के आचार्यों ने जो कुछ विशेष कहा है इस पर प्रकाश डालेंगे।

सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया :

जैसा कि हमने ऊपर कहा है पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का जो उत्तर वैदिक ऋषियों ने दिया है उसे पहले यहाँ लिख रहे हैं। "सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया" इस प्रसंग में वैदिक ऋषियों में एक श्रुति प्रचलित है। जो इस प्रकार है–

तस्माद्वा-एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः। आकाशद्वायुः।
वायोरग्निः अग्नेरापः अदम्यः पृथिवी। पृथिव्याः अन्तरिक्षम्।

इस श्रुति का अर्थ भी बहुत स्पष्ट है, जो इस प्रकार है–

ईश्वर या ब्रह्म से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, फिर आकाश से वायु उत्पन्न हुई। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, फिर अग्नि से जल उत्पन्न हुआ और तब जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ। अन्तरिक्ष से तात्पर्य पृथ्वी और आकाश के बीच के स्थान से है।

ब्रह्म या ईश्वर से आकाश के उत्पन्न होने की बात का इतना ही अर्थ समझना चाहिये कि सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड जगत् हैं। एक विशेष ब्राह्मण या जगत् की उत्पत्ति असीम आकाश के जिस विशेष खण्ड में हुई, उसका पहले आकाश नाम से व्यवहार नहीं होता था। आकाश नाम का व्यवहार तो जगत् के उत्पन्न होने के पश्चात् से ही प्रारम्भ हुआ। अन्यथा आकाश तो पहले ही से विद्यमान था।

अब नीचे श्रुति की व्याख्या देते हैं :

प्रकृति परमाणुओं के रूप में आकाश में भरी हुई थी। सृष्टि रचना के समय इन परमाणुओं में गति या हलचल उत्पन्न हो गयी, जिसे वायु नाम दिया गया। गति के उत्पन्न

हो जाने से परमाणु यत्र-तत्र असीम आकाश में महागोलों के रूप में पुंजीभूत होने लगे। वायु के चलते ही रहने के कारण इन पुंजीभूत हुए महागोलों के परमाणुओं में घर्षण उत्पन्न हो गया, जिसके कारण प्रत्येक गोला आग के समान दहकने लगा। इस प्रकार असीम आकाश में करोड़ों सूर्य प्रकट हो गये। इसी बात को लक्ष्य करके कहा गया है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई।

अब जब असीम आकाश में करोड़ों सूर्य उत्पन्न हो गये तो इनमें विस्फोट हुआ और विस्फोट के होने से प्रत्येक सूर्य से कई लोक या संसार उत्पन्न हो गये, जो अपने-अपने सूर्यों के चारों ओर चक्कर काटने लगे। धीरे-धीरे ये लोक या संसार अपने सूर्य से दूर होने के कारण ठण्डे होने लगे और आग में जो गैसें भरी हुई थीं वे एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करने लगीं। इनमें से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नामक गैसें एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करके जल बन गयीं, तब यह जल सूर्य में से निकले हुए उपर्युक्त लोकों या संसार पर फैल गया। इसी से कहा गया है कि अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। अब जब जल प्रत्येक लोक या संसार पर फैल गया तो उसका जल से ढंका हुआ भाग पिचक गया और समस्त जल पिचकने से बने हुए महागर्त में एकत्र हो गया। इस प्रकार प्रत्येक लोक या संसार दो भागों अर्थात् सागर और स्थल में बँट गया। यहीं प्रत्येक लोक या संसार का आदिम रूप हुआ। इसी से कहा जाता है कि जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ।

''अन्तरिक्ष'' पृथ्वी और आकाश के मध्य के रिक्त स्थान को कहते हैं।

पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उस पर आगे जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई?

इस विषय में स्यात् कोई श्रुति थी, जो लुप्त हो गयी है। अतः हमें पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति के विषय में जानने के लिये पुराणों की शरण लेनी होगी। पुराणों में सारांशतः कहा गया है कि समुद्रों के जल में पहले विष्णु भगवान् उत्पन्न हुए, फिर उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और तब उस कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, जिन्होंने सृष्टि की रचना प्रारम्भ की। ऐसे पौराणिक आख्यानों का तात्पर्य यही है कि जीवों की उत्पत्ति समुद्रों के जल में हुई। इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो बतलाया है, वह बहुत प्रमाणयुक्त होने से मान्य है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि उपर्युक्त प्रकार से पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के तीन अरब वर्षों के पश्चात् अर्थात् आज से लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर स्थित समुद्रों के जल में जीव छोटे-छोटे परमाणुओं के रूप में उत्पन्न हो गये और विकास करने लगे। यही जीवों के परमाणु विकास करते-करते आधुनिक काल के मानवों, पशुओं, पक्षियों और वनस्पतियों के रूप में हमें दिखलायी पड़ते हैं। हिन्दुओं की मान्यता है कि जीवों के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उनकी चौरासी लाखवीं योनि में आधुनिक प्रकार के जीव उत्पन्न हुए हैं। जीवों की अगली पीढ़ी उसकी पहली पीढ़ी से उन्नत प्रकार की होती

सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया?

''सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया''—इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि हमारे वैदिक ऋषि इस प्रश्न का क्या उत्तर देते थे। बात यह है कि यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि हमारे वैदिक ऋषियों ने पहले ईश्वर क्या है? इस प्रश्न पर विचार किया और फिर उसके पश्चात् ही इस दूसरे महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया है। वह सांख्य दर्शन के आचार्यों को मान्य तो है ही फिर भी इन्होंने इस प्रसंग में कुछ और बातें भी लिख दी हैं।

अतः पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का हमारे वैदिक ऋषियों ने जो उत्तर दिया है उसे बतलायेंगे और तब ''सांख्यों का मत'' शीर्षक के नीचे इस सम्बन्ध में सांख्य दर्शन के आचार्यों ने जो कुछ विशेष कहा है इस पर प्रकाश डालेंगे।

सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया :

जैसा कि हमने ऊपर कहा है पहले हम सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया इस प्रश्न का जो उत्तर वैदिक ऋषियों ने दिया है उसे पहले यहाँ लिख रहे हैं। ''सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया'' इस प्रसंग में वैदिक ऋषियों में एक श्रुति प्रचलित है। जो इस प्रकार है—

तस्माद्वा-एतस्मादात्मनआकाशः सम्भूतः। आकाशद्वायुः।
वायोरग्निः अग्नेरापः अदम्यः पृथिवी। पृथिव्याः अन्तरिक्षम्।

इस श्रुति का अर्थ भी बहुत स्पष्ट है, जो इस प्रकार है—

ईश्वर या ब्रह्म से पहले आकाश उत्पन्न हुआ, फिर आकाश से वायु उत्पन्न हुई। वायु से अग्नि उत्पन्न हुई, फिर अग्नि से जल उत्पन्न हुआ और तब जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ। अन्तरिक्ष से तात्पर्य पृथ्वी और आकाश के बीच के स्थान से है:

ब्रह्म या ईश्वर से आकाश के उत्पन्न होने की बात का इतना ही अर्थ समझना चाहिये कि सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड जगत् हैं। एक विशेष ब्राह्मण या जगत् की उत्पत्ति असीम आकाश के जिस विशेष खण्ड में हुई, उसका पहले आकाश नाम से व्यवहार नहीं होता था। आकाश नाम का व्यवहार तो जगत् के उत्पन्न होने के पश्चात् से ही प्रारम्भ हुआ। अन्यथा आकाश तो पहले ही से विद्यमान था।

अब नीचे श्रुति की व्याख्या देते हैं :

प्रकृति परमाणुओं के रूप में आकाश में भरी हुई थी। सृष्टि रचना के समय इन परमाणुओं में गति या हलचल उत्पन्न हो गयी, जिसे वायु नाम दिया गया। गति के उत्पन्न

हो जाने से परमाणु यत्र-तत्र असीम आकाश में महागोलों के रूप में पुंजीभूत होने लगे। वायु के चलते ही रहने के कारण इन पुंजीभूत हुए महागोलों के परमाणुओं में घर्षण उत्पन्न हो गया, जिसके कारण प्रत्येक गोला आग के समान दहकने लगा। इस प्रकार असीम आकाश में करोड़ों सूर्य प्रकट हो गये। इसी बात को लक्ष्य करके कहा गया है कि वायु से अग्नि उत्पन्न हुई।

अब जब असीम आकाश में करोड़ों सूर्य उत्पन्न हो गये तो इनमें विस्फोट हुआ और विस्फोट के होने से प्रत्येक सूर्य से कई लोक या संसार उत्पन्न हो गये, जो अपने-अपने सूर्यों के चारों ओर चक्कर काटने लगे। धीरे-धीरे ये लोक या संसार अपने सूर्य से दूर होने के कारण ठण्डे होने लगे और आग में जो गैसें भरी हुई थीं वे एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करने लगीं। इनमें से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन नामक गैसें एक-दूसरे से प्रतिक्रिया करके जल बन गयीं, तब यह जल सूर्य में से निकले हुए उपर्युक्त लोकों या संसार पर फैल गया। इसी से कहा गया है कि अग्नि से जल उत्पन्न हुआ। अब जब जल प्रत्येक लोक या संसार पर फैल गया तो उसका जल से ढंका हुआ भाग पिचक गया और समस्त जल पिचकने से बने हुए महागर्त में एकत्र हो गया। इस प्रकार प्रत्येक लोक या संसार दो भागों अर्थात् सागर और स्थल में बँट गया। यहीं प्रत्येक लोक या संसार का आदिम रूप हुआ। इसी से कहा जाता है कि जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ।

"अन्तरिक्ष" पृथ्वी और आकाश के मध्य के रिक्त स्थान को कहते हैं।

पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उस पर आगे जीवों की उत्पत्ति कैसे हुई?

इस विषय में स्यात् कोई श्रुति थी, जो लुप्त हो गयी है। अतः हमें पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति के विषय में जानने के लिये पुराणों की शरण लेनी होगी। पुराणों में सारांशतः कहा गया है कि समुद्रों के जल में पहले विष्णु भगवान् उत्पन्न हुए, फिर उनकी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और तब उस कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, जिन्होंने सृष्टि की रचना प्रारम्भ की। ऐसे पौराणिक आख्यानों का तात्पर्य यही है कि जीवों की उत्पत्ति समुद्रों के जल में हुई। इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो बतलाया है, वह बहुत प्रमाणयुक्त होने से मान्य है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि उपर्युक्त प्रकार से पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के तीन अरब वर्षों के पश्चात् अर्थात् आज से लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर स्थित समुद्रों के जल में जीव छोटे-छोटे परमाणुओं के रूप में उत्पन्न हो गये और विकास करने लगे। यही जीवों के परमाणु विकास करते-करते आधुनिक काल के मानवों, पशुओं, पक्षियों और वनस्पतियों के रूप में हमें दिखलायी पड़ते हैं। हिन्दुओं की मान्यता है कि जीवों के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उनकी चौरासी लाखवीं योनि में आधुनिक प्रकार के जीव उत्पन्न हुए हैं। जीवों की अगली पीढ़ी उसकी पहली पीढ़ी से उन्नत प्रकार की होती

है। जब कई पीढ़ियों के पश्चात् आविर्भूत हुई पीढ़ी पहली पीढ़ी से सर्वथा भिन्न प्रकार की जान पड़ने लगती है तो उसे योनि कहा जाता है। यदि दो योनियों के बीच लगभग सौ वर्षों का ही अन्तराल मान लिया जाये तो इसका यही अर्थ होता है कि हम आज पृथ्वी पर जैसे मानव पशु और पक्षी तथा वनस्पतियाँ देख रहे हैं, वे प्रारम्भिक परमाणु रूपी जीव से लगभग अस्सी करोड़ वर्षों के पश्चात् ही अस्तित्व में आये, जैसा कि आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। पृथ्वी पर जीवों के उत्पन्न होने के विषय में कुछ विस्तार से हम परिशिष्ट स्कन्ध के अध्याय दो में प्रकाश डालेंगे।

सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया?

इस प्रश्न का उत्तर हमने अपने वैदिक ऋषियों के अनुसार ऊपर लिख दिया है। अब हम आगे बतलायेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर सांख्य दर्शन के आचार्य क्या देते हैं?

'सांख्यों का मत'—सृष्टि या जगत् कैसे अस्तित्व में आया? इस प्रश्न का उत्तर वैदिक ऋषियों ने जो दिया है वह सांख्यों को मान्य तो है ही, किन्तु वैदिक ऋषियों ने जो यह कहा है कि "सृष्टि रचना के समय प्रकृति के परमाणुओं में गति या हलचल उत्पन्न हो गयी, जिसे वायु नाम दिया गया।"

यहाँ उन्होंने सृष्टि रचना के समय प्रकृति के परमाणुओं में गति कैसे उत्पन्न हो गयी? इसका कोई कारण नहीं बतलाया है। जब कि सांख्य दर्शन के आचार्यों ने इसका कारण भी बतलाया है जो इस प्रकार है—"सृष्टि रचना के समय जब अव्यक्त प्रकृति का अव्यक्त पुरुष से सम्पर्क हुआ तो इन दोनों के बीच अत्यन्त स्वाभाविक घनिष्ठता होने के कारण ही प्रकृति के परमाणुओं में गति या हलचल हो गयी जिसे वायु नाम दिया गया।"

अर्थात् सांख्य दर्शन के आचार्य सृष्टि रचना के समय प्रकृति के परमाणुओं में गति या हलचल के उत्पन्न होने का कारण अव्यक्त प्रकृति का अव्यक्त पुरुष से सम्पर्क बतलाते हैं जबकि वैदिक ऋषि इसका कोई कारण नहीं बतलाते हैं। वे मानते हैं कि सृष्टि रचना का समय आने पर प्रकृति के परमाणुओं में अपने आप गति या हलचल उत्पन्न हो जाती है।

"सांख्य दर्शन के आचार्यों का उपर्युक्त कथन कि सृष्टि की रचना के समय प्रकृति के परमाणुओं में गति अव्यक्त पुरुष एवं अव्यक्त प्रकृति के एक–दूसरे से सम्पर्क में आने के कारण हुई।"

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है वरन् इसका समर्थन पौराणिकों ने भी किया है, किन्तु पुरुष या जीव की उत्पत्ति पृथ्वी के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् उस पर स्थित समुद्रों के जल में हुई, अर्थात् सृष्टि के आरम्भ हो जाने के 3 अरब वर्षों के पश्चात् हुई।

अतः जब सृष्टि की रचना प्रारम्भ हुई उस समय पुरुष या जीवों का अस्तित्व था ही

नहीं तब पुरुष या जीव प्रकृति के गर्भ में थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शन के आचार्यों ने यह बात अनुमान के आधार पर लिखी है अन्यथा सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति के परमाणुओं में गति या हलचल की उत्पत्ति साधारण प्रकार से तो कल्पारम्भ में सृष्टि की रचना का समय हो जाने के कारण ही हुई। सांख्यों की अन्य बातें बड़ी पांडित्यपूर्ण हैं और वे मान्य हैं ही।

क्या पुरुष या जीव जड़ प्रकृति से उत्पन्न हुए?

किन्तु यदि उपर्युक्त बात मान्य है कि जीव या पुरुष सृष्टि के आरम्भ से तीन अरब वर्षों के पश्चात् अर्थात् आज से लगभग एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर स्थित समुद्रों के जल में परमाणुओं के रूप में उत्पन्न होने लगे, तो जीवों या पुरुषों को जड़ प्रकृति से ही जात मानना चाहिये, किन्तु जीव जड़ प्रकृति से उत्पन्न हुए। यह बात सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत ही है। सांख्य दर्शन का प्रथम सिद्धान्त है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। जब प्रकृति जड़ है, उसमें चैतन्य है ही नहीं, तो ऐसी प्रकृति से चेतन जीवों या पुरुषों की उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है।

अपरंच यह बात दर्शनों में सबसे मान्य वेदान्त दर्शन के मत के भी सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वेदान्त सृष्टि या जगत् की उत्पत्ति चेतन ब्रह्म से ही मानता है और उसकी दृष्टि में समस्त सृष्टि या जगत् ब्रह्ममय ही है। (इस प्रसंग में पाठक अध्याय-5 वेदान्त दर्शन में जड़ द्वैत एवं वेदान्त दर्शन शीर्षक में नीचे लिखी हुई बातें अवश्य पढ़ लें) तो फिर आधुनिक वैज्ञानिकों ने वरन् भारतीय ऋषियों, मुनियों ने भी जो जड़ प्रकृति के गर्भ से ही जीवों या पुरुषों की उत्पत्ति की बात कही है, वह कैसे? इस गुत्थी को सुलझाया है स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता के अध्याय-सात के श्लोक चार और पाँच में।

भगवान् कृष्ण ने कहा है कि सृष्टि के मूल में तीन तत्व हैं, उनमें से सबसे श्रेष्ठ तत्व पुरुषोत्तम है, जिसे ईश्वर या परमेश्वर या ब्रह्म आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पुरुषोत्तम समस्त सृष्टि को धारण करने वाला है और वही सबका स्वामी है। पुरुषोत्तम की दो प्रकृतियाँ हैं। इनमें प्रथम तो यही है, जिससे जगत के समस्त जड़ पदार्थ भूमि, वायु, समुद्र वरन् सूर्य एवं चन्द्रमा भी उत्पन्न हुए हैं। इसको भगवान् कृष्ण ने "अपरा प्रकृति" नाम दिया है।

अपरा प्रकृति के अतिरिक्त पुरुषोत्तम की एक दूसरी भी प्रकृति है, जिसे भगवान् कृष्ण ने "परा प्रकृति" नाम दिया है। यह परा प्रकृति अपरा प्रकृति से उच्च कोटि की है। इसी परा प्रकृति से ही जीव या पुरुष उत्पन्न हुए हैं या यों कहिये कि जीव या पुरुष इसी परा प्रकृति के अपर रूप है और अपरा प्रकृति सदैव परा प्रकृति के लिये ही कार्य करती रहती है।

हम नीचे गीता के अध्याय सात के श्लोक चार और पाँच का उद्धरण अर्थ सहित कर देते हैं।

(४) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्न प्रकृतिरष्टधा।।
(५) अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली अपरा प्रकृति (अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति) है और महाबाहो! इससे दूसरी को जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीव रूपा परा (चेतन) प्रकृति है।

अध्याय-चार 'क'

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् में मनुष्य का कर्त्तव्य एवं मरणोपरान्त मनुष्य की स्थिति :

अब तक हम इस निश्चय पर पहुँच चुके हैं कि सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि के मूल दो ही तत्व हैं, जो हैं जीव या असंख्य पुरुष एवं प्रकृति। इनमें से प्रकृति तो जड़ है और उससे समस्त जड़ जगत् अर्थात् भूमि वायु, समुद्र, पर्वत, सूर्य और चन्द्रमा आदि की उत्पत्ति हुई है, किन्तु पुरुष नित्य, चेतन एवं दुःख सुख से परे आनन्द स्वरूप है। हमने सांख्य दर्शन के मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति पर भी प्रकाश डाल दिया है। अब हम आगे इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि "सांख्य दर्शन के मतानुसार जगत् में मनुष्य या पुरुष का कर्त्तव्य क्या है और वह जगत् में कैसे व्यवहार करे?

यहाँ हम इतना और बतला दें कि सांख्य दार्शनिक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम तो वे जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और धर्माचरण करते हैं। हम उन्हें सेश्वर सांख्य कहेंगे। दूसरे वे जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, क्योंकि उनके कथानुसार जब ईश्वर किसी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता है, तो उसका प्रमाण हो ही क्या सकता है। इन्हें हम निरीश्वर सांख्य कहेंगे, किन्तु ये अनीश्वरवादी सांख्य दार्शनिक धार्मिक सिद्धान्तों सत्य, अहिंसा और अस्तेय (दूसरों का माल न हरना) आदि में पूर्ण आस्था रखते हैं, क्योंकि उनका कथन है कि यदि मनुष्य इन धार्मिक सिद्धान्तों का आचरण न करे तो समाज ही नष्ट हो जायेगा और जगत् में जीना असम्भव हो जायेगा।

अब प्रश्न यह है कि मरणोपरान्त इन दोनों प्रकार के सांख्यों की क्या स्थिति होती है?

सांख्य दर्शन के अनुसार जब जीव या असंख्य पुरुष नित्य, चेतन एवं दुःख सुख से परे आनन्द स्वरूप है, तो चाहे मनुष्य ईश्वर में विश्वास करता हो, चाहे न विश्वास करता हो, परन्तु जब वह मर जायेगा और देह से या प्रकृति से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जायेगा, तो उसे तो अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में विराजना ही चाहिये; किन्तु ऐसी बात नहीं है। सांख्य दर्शन का कथन है कि मरने के समय यदि मनुष्य की कोई कामना

शेष रह जाती है तो इसको पूर्ण करने के लिये वह अवश्य पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जब उसकी कोई मनोकामना शेष न रह जाये, तभी वह मरणोपरान्त अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में विराजेगा।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को इस संसार में कैसे आचरण करना चाहिये कि मरने के समय उसकी कोई कामना शेष न रह जाये, जिससे मरणोपरान्त वह अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में विराजने लगे।

इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर भगवान् कृष्ण के काल के सांख्य दार्शनिकों ने जो दिया है—हम उस पर विस्तार से अगले अध्याय में प्रकाश डाल रहे हैं।

अध्याय-चार 'ख'

कर्म बन्धन के कारण होते हैं :

सांख्य दर्शन के आचार्यों का मत था कि कर्म बन्धन के कारण होते हैं।

सांख्य मतावलम्बी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर चुके मनुष्यों या अपने को अपने शरीर से भिन्न समझने लगने वाले मनुष्यों दोनों को इसलिये कोई कर्म न करने का उपदेश देते थे कि "कर्म बन्धन के कारण होते हैं।" बात यह है कि जब कोई मनुष्य कर्म करता है तो उसके फल की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता ही है और फल के अनुकूल या प्रतिकूल होने पर उसके मन में राग-द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जो विभिन्न प्रकार की कामनाओं को जन्म देता है एवं मरने के समय उसकी कामनायें शेष रह जाती हैं। जब मनुष्य कोई कर्म करेगा ही नहीं तो कर्म के फल का कोई प्रश्न न होने से मरने के समय उसके मन में कोई कामना शेष नहीं रहेगी और वह मरने के पश्चात् अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में विराजने लगेंगे। जो महापुरुष ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं या जो महापुरुष अपने को अपने शरीर से सर्वथा भिन्न समझ चुके हैं और इसकी उन्हें पूर्णतया प्रतीति भी होने लगी है। इन दोनों को सांख्य दर्शन के आचार्य प्रत्येक प्रकार के कर्म त्याग का उपदेश देते थे यहाँ तक कि उत्तम उद्देश्य से किये जाने वाले कर्मों का या सत्कर्मों का भी त्याग करने का उपदेश देते थे। उनका कथन था कि सत्कर्मों को भी हम त्यागने का उपदेश इसलिये देते हैं कि "सत्कर्मों" के परिणामस्वरूप मनुष्य को मरणोपरान्त स्वर्ग भले ही मिल जाये, किन्तु उसको संसार के आवागमन से मुक्ति तो कर्मों के त्याग से ही मिल सकती है।"

कर्म संन्यास :

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त—कर लेने वालों या अपने को अपने शरीर से भिन्न समझने लगने वालों दोनों प्रकार के महापुरुषों को जो सांख्य दर्शन के आचार्य कर्म त्याग का उपदेश देते थे उसे उन्होंने कर्म संन्यास नाम दिया था।

कर्म संन्यास को बहुधा केवल "संन्यास" भी कहा जाता था।

भगवान् कृष्ण के काल के सांख्य दार्शनिक ही नहीं वरन् उस काल के प्रायः सभी ऋषि मुनि और साधक कर्म संन्यास या संन्यास के पक्षपाती थे, अर्थात् वे ऐसा मानते थे कि जब मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाये अथवा जब उसे इस बात की पूर्ण प्रतीति होने लगे कि "मैं" प्रकृति से अर्थात् प्रकृति के अंगभूत अपने शरीर से सर्वथा भिन्न हूँ, तो वह कर्म करना छोड़ दे और वनवासी बन जाये या फिर भिक्षाटन द्वारा अपनी जीवन वृत्ति चलाने लगे, किन्तु कोई कर्म तो नहीं ही करें। यहाँ तक कि अपने शेष आयु में अपनी जीवन वृत्ति के लिये भी कोई कर्म न करें और कर्म संन्यास या संन्यास ग्रहण कर लें।

कर्म संन्यास और भगवान् कृष्ण :

भगवान् कृष्ण अपने काल के ऋषियों मुनियों की कर्म संन्यास के प्रति मान्यता को देखते हुए कर्म संन्यास का स्पष्ट विरोध तो नहीं करते थे, किन्तु वास्तव में वे "कर्म संन्यास" के विरोधी थे। उनका कथन था कि यदि कर्म संन्यास की प्रवृत्ति बढ़ने लगेगी और लोग अपने वर्ग या जाति के लिये वेदों द्वारा नियत कर्मों को त्यागकर वनों का सेवन करने लगेंगे, तो इससे वैदिक काल से प्रचलित हमारी सामाजिक व्यवस्था में व्यवधान पड़ने लगेगा।

भगवान् कृष्ण का मत था कि "मनुष्य को कर्म का त्याग तो कभी नहीं करना चाहिये, यहाँ तक कि यदि मनुष्य को ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो जाये या उसे ईश्वर का साक्षात्कार हो जाये तो भी उसे कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, जिससे कि अन्य लोग भी उनका अनुकरण करते हुए कर्म संन्यासी न बनने लगें।

पूछा जा सकता है कि जब हमारे ऋषियों, मुनियों ने कर्म को बन्धन बतलाया है तो फिर क्या उपाय है जिससे कि कर्म, बन्धन का कारण न बने? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् कृष्ण ने यों दिया है–

"यदि मनुष्य कर्म तो करे, किन्तु कर्म से फल में उसकी आसक्ति न हो तो कर्म के बन्धन से सदैव मुक्त ही रहेगा।"

कर्मफल में अनासक्ति का अर्थ :

यहाँ कर्म के फल में अनासक्ति (अर्थात् आसक्ति न रहने) का अर्थ भली-भाँति समझ लेना चाहिये। कर्म के फल में अनासक्ति कर्म के फल के प्रति उदासीनता नहीं है, वरन् उसका अर्थ यह है कि मनुष्य कर्म तो करे और पूरी संलग्नता के साथ करें तथा कर्म का वाँछित फल न मिलने पर उसके कारणों का भी पता लगाये और यदि इस प्रसंग में उसके द्वारा कुछ कमी रह गयी हो, तो उसे दूर करने का भी प्रयत्न करे, जिससे कर्म का वाँछित फल मिले, किन्तु प्रयत्न करने पर भी यदि वाँछित फल न मिले तो मनुष्य को तनिक भी उदविग्न या दुखित नहीं होना चाहिये, वरन् उसे ईश्वर की इच्छा मानकर शान्त ही रहना चाहिये। ऐसे ही यदि कर्म करने पर मनुष्य को उसकी आशा से अधिक उत्तम फल प्राप्त हो जाये तो ऐसी अवस्था में भी मनुष्य को प्रसन्नता से विह्वल या मत्त

नहीं हो जाना चाहिये, वरन् इसे ईश्वर की कृपा मानकर शान्त ही रहना चाहिये।

उदाहरणार्थ—मान लीजिये एक कृषक ने एक एकड़ खेत में गेहूँ बोया, उसने खेत की भली-भाँति जुताई की, अच्छा बीज क्रय करके बोया और उचित मात्रा में उर्वरक (खाद) भी क्रय करके डाला, किन्तु फिर भी उसे 20 कुन्टल के स्थान में बारह 12 कुन्तल ही गेहूँ की उपज प्राप्त हुई। ऐसी अवस्था में कृषक को चाहिये कि वह इस बात पर विचार करे कि उसे ने उचित परिणाम में गेहूँ का उत्पाद क्यों नहीं मिला? क्या उसे बीज विक्रेता ने उचित प्रकार का बीज देने में कोई कसर तो नहीं की? इन सब बातों को जान लेने के पश्चात् यदि उसे ज्ञात हो कि बीज विक्रेता या उर्वरक विक्रेता ने उसे ठगा तो वह उनको दण्डित भी कराने का प्रयत्न करे, किन्तु सब कुछ कर लेने के पश्चात् भी वह गेहूँ का उत्पाद कम मिलने पर तनिक भी उद्विग्न या दुखी न हो।

कर्म योग :

यदि कोई मनुष्य पूरी निष्ठा और संलग्नता के साथ कर्म करे, किन्तु उसे उसका उचित अनुकूल फल न मिले तो भी वह इससे उद्विग्न या दुखी न हो वरन् इसे ईश्वर की इच्छा मानकर शान्त ही रहे एवं यदि कर्म का फल आशा से अधिक उत्तम प्राप्त हो जाये तो मनुष्य इस पर मोद से मत्त न हो जाये वरन् इसे ईश्वर की कृपा मानकर शान्त ही रहे''—इसी बात को भगवान् कृष्ण कर्म योग कहते थे। कर्म योगी का कर्म कभी बन्धन का कारण नहीं बनता है।

कर्म योग को गीता में बहुधा योग भी कहा गया है। ऊपर सांख्यों के कर्म संन्यास या संन्यास और भगवान् कृष्ण के कर्म योग या योग पर भली-भाँति प्रकाश डाल दिया गया है। गीता में कर्मयोग ही भगवान् श्रीकृष्ण का मुख्य उपदेश है।

सांख्यों के पच्चीस तत्व :

न्याय दर्शन के आचार्यों ने संसार के सभी पदार्थों को नित्य परमाणुओं से ही निर्मित माना है। अतः उनकी दृष्टि में संसार में परमाणुओं के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्व नहीं है, किन्तु सांख्य दर्शन ने जगत् को निम्नांकित पच्चीस तत्वों से निर्मित माना है, वे हैं—(1) पुरुष (2) प्रकृति (3) मन (4) बुद्धि (5) अहंकार (6) पाँच महाभूत अर्थात् आकाश वायु अग्नि या तैपश जल और पृथ्वी (7) पाँच तन्मात्रायें या पाँच महाभूतों के पाँच गुण जो हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (8) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् कान, त्वचा, आँखें, जिह्वा और नासिका (9) पाँच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पैर, गुदा, लिंग और मुख—इन्हीं पच्चीस तत्वों के गिनाने या संख्यात करने के कारण ही सांख्य दर्शन को उसका यह सांख्य नाम दिया गया है। जगत् में कुल पच्चीस ही तत्व सम्भव हैं, जिनसे जगत् के सभी पदार्थ निर्मित हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पाठक इनसे परिचित ही हैं।

प्रकृति समस्त जड़ जगत् का मूल है। पुरुष सांख्य दर्शन का एक परिभाषिक शब्द है, जो जीव मात्र को परिचित करने के लिये प्रयुक्त होता है प्रकृति जड़ है, किन्तु पुरुष जो चेतन है। इस चेतन की रचना मन और बुद्धि के परमाणुओं से होती है। जहाँ चेतन होगा वहाँ मन और बुद्धि अवश्य होंगे। ये दोनों अति सूक्ष्म तत्व हैं और अहंकार कोई मूर्त तत्व नहीं है। वरन् प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से पृथक् करने वाले गुणों के समुच्चय को ही अहंकार कहा जाता है। आप देखेंगे कि इन पच्चीस तत्वों में कहीं ईश्वर या परमेश्वर को नहीं गिना गया है, क्योंकि उसे किसी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता है। अतः उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता है, किन्तु हमारे अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न ऋषियों, मुनियों ने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था। अतः ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उनके वचनों से बढ़कर और प्रमाण हो ही क्या सकता है। सांख्य दर्शन के ईश्वर के मानने वाले आचार्यों ने ईश्वर को छब्बीसवाँ तत्व 'षड्विशम्' तत्वम्'' माना है। पाठक इतना और जान लें कि मनुष्य के दो शरीर होते हैं। (1) स्थूल शरीर जिसे हम देखते हैं। (2) सूक्ष्म शरीर जिसे हम आँखों से नहीं देख सकते हैं। स्थूल शरीर उपर्युक्त 25 तत्वों में से 23 तत्वों का बना हुआ होता है। जबकि लिंग शरीर केवल 18 तत्वों का बना हुआ होता है। इसमें पाँच महाभूत अर्थात् मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश नहीं होते हैं। मरने के पश्चात् यह लिंग शरीर ही शेष रहता है और यही शरीर पुनर्जन्म के अवसर पर प्रसंग में माता के गर्भ में जाता है।

अध्याय-पाँच

वेदान्त दर्शन :

दर्शनों में वेदान्त दर्शन सबसे प्रमुख दर्शन है। वेदान्त दर्शन में ईश्वर और सृष्टि की उत्पत्ति आदि पर सर्वथा एक नये ढंग से विचार किया गया है। वेदान्त के सिद्धान्तों को भली-भाँति समझने के लिये न्याय दर्शन और सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक है। इन दर्शनों की चर्चा हमने पहले ही कर दी है। अब हम अति संक्षेप में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

न्याय दर्शन जगत् को परमाणु मय मानता है। उसका कथन है कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ निर्जीव या सजीव परमाणुओं से बना हुआ है, किन्तु सांख्य दर्शन मानता है कि जगत् में दो मौलिक तत्व हैं जो हैं पुरुष और प्रकृति। पुरुष सांख्य दर्शन का एक परिभाषिक शब्द है। प्रत्येक सजीव पदार्थ यथा—मनुष्य पशु-पक्षी आदि का जो जीव होता है उसी को सांख्य दर्शन की परिभाषा के अनुसार पुरुष कहते हैं। सजीव पदार्थ का जो शरीर होता है उसे सांख्य दर्शन प्रकृति का ही एक अंश मानता है। जीव और शरीर एक दूसरे से पृथक् हैं ही। जब जीव शरीर में से निकल जाता है तब शरीर प्रकृति के एक अंश के ही रूप में शेष रह जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि सजीव पदार्थ वास्तव में

पुरुष की व्यक्तावस्था है केवल जीव तो पुरुष की अव्यक्तावस्था है। इस प्रकार सांख्य दर्शन जगत् में 2 ही मौलिक तत्व मानता है। पुरुष और प्रकृति।

जगत् के सभी निर्जीव पदार्थ यथा—भूमि, जल, वायु, समुद्र, पर्वत आदि प्रकृति हैं। प्रकृति को भी सांख्य दर्शन के आचार्य वैज्ञानिकों या न्याय दर्शन के आचार्यों के समान परमाणुमय ही मानते हैं।

जड़ाद्वैत एवं वेदान्त दर्शन :

वेदान्त दर्शन एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न पूछता है। वेदान्त पूछता है कि जगत् में जो असंख्य जीव (शरीर रहित) हैं एवं जो निर्जीव तथा जड़ पदार्थ यथा मिट्टी, पत्थर, कोयला आदि हैं। इनके सर्वतः आदिम मूल में क्या है? हम पहले कोयले के एक टुकड़े पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं। यदि हम किसी वैज्ञानिक से पूछें कि कोयले के टुकड़े के सर्वतः आदिम मूल में क्या है? तो वह झट उत्तर देगा, कोयला यतः प्रकृति का एक अंश है और प्रकृति परमाणुमयी है। अतः कोयले के सर्वतः आदिम मूल में परमाणु हुआ। इस विशेष प्रकार के परमाणु को हम लोग "कार्बन" कहते हैं। अतः कोयले के सर्वतः आदिम मूल में कार्बन नामक परमाणु है। यदि हम उससे फिर पूछे कि इस कार्बन नामक परमाणु के भी मूल में क्या है? तो वह उत्तर देगा, "परमाणुओं के मूल में इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन एवं न्यूट्रॉन नामक परमाणु से भी छोटे-छोटे खण्ड हैं एवं इन्हीं तीनों की एक विशेष व्यवस्था से कार्बन नामक परमाणु बना है। यदि हम उससे और आगे पूछें कि इन इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रान और न्यूट्रॉन के भी मूल में कौन-सा पदार्थ है? तो वह इसका कुछ भी उत्तर नहीं देगा किन्तु हमारी बुद्धि कहती है कि जब इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रान और न्यूट्रॉन नामक पदार्थ विद्यमान है तो वे अवश्य किसी पदार्थ से ही बने होंगे। यदि इन इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन को ही वह स्वतंत्र या सर्वतः आदिम मौलिक पदार्थ मान लिया जाये तो प्रश्न होता है कि इन इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन के बीच कौन-सा ऐसा सम्बन्ध है? जिससे इन्होंने परस्पर संयुक्त होकर कार्बन नामक परमाणु बनाया है। इनके बीच घनिष्ठता ही यह सूचित करती है कि ये किसी एक मौलिक पदार्थ के ही बने हैं और इसी पदार्थ को वेदान्त ब्रह्म कहता है।

इसी प्रकार यदि प्रश्न किया जाये कि प्रत्येक जीव के आदिम मूल में क्या है? तो इसका उत्तर भी ईश्वर या ब्रह्म के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अतः वेदान्त दर्शन के अनुसार संसार के प्रत्येक निर्जीव और सजीव पदार्थ के सर्वतः आदिम मूल में ब्रह्म नामक ही एक तत्व है एवं वह मूल तत्व चेतन होगा ही, क्योंकि चेतन में ही एक दूसरे के साथ संयोग करने का गुण होता है। इस प्रकार जगत का प्रत्येक पदार्थ के ब्रह्म से बने हुए होने के कारण जगत् को ब्रह्ममय ही माना जा सकता है।

जिस सर्वतः आदि मौलिक पदार्थ को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं उसे ही पाश्चात्य विद्वान यथा जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान कान्त ने "डिंग आन झिश्" कहा है।

नाम रूपात्मक जगत् :

इस प्रकार वेदान्त कहता है कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ के सर्वतः आदिम मूल में ब्रह्म ही है। अतः प्रत्येक पदार्थ ब्रह्ममय ही है। अर्थात् यह जगत्, ब्रह्ममय ही है। हमने जगत् के प्रत्येक पदार्थ को उसके रूप के अनुसार उसे विभिन्न नाम दे रखा है। अतः यह जगत् नाम रूपात्मक ही हुआ। (रूप से हमारा तात्पर्य बनावट एवं गुण आदि से है)

"तत्व और व्यवहार"–किन्तु यदि यह जगत् ब्रह्ममय ही है और जगत् का प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ही है तो फिर संसार का व्यवहार कैसे चल रहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तत्वतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ ब्रह्म ही है, किन्तु व्यवहार में प्रत्येक पदार्थ का अपना वही निश्चित स्थान है, जो हम देख रहे हैं। एक उदाहरण लीजिये, मान लीजिये कि दसवीं कक्षा के कुछ छात्र एक न्यायाधीश का नाटक खेल रहे हैं। इस नाटक में एक छात्र न्यायाधीश बना हुआ है। दूसरा उसका पुरस्कर्ता या पेशकार बना हुआ है और चौथा एक अभियुक्त बना हुआ है जिसके ऊपर चोरी करने का अभियोग है। ऐसे ही 2 छात्र पुलिस के सिपाही बने हुए हैं और एक छात्र चोर बने हुए छात्र का वकील बना हुआ है। ये सभी छात्र अपने-अपने पदों के अनुसार बड़े मनोयोग से अपनी भूमिका या पार्ट खेल रहे हैं और अन्त में न्यायाधीश बना हुआ छात्र चोर बने हुए छात्र को 6 मास के सेशन कारावास का दण्ड दे देता है। फिर नाटक समाप्त हो जाता है। आप देखेंगे कि इस नाटक में यद्यपि सभी छात्र दसवीं कक्षा के ही छात्र हैं और एक दूसरे के बराबर ही हैं, किन्तु नाटक में एक छात्र न्यायाधीश है तो दूसरा अभियुक्त या चोर है। तीसरा छात्र न्यायालय का चपरासी इत्यादि। सभी अपने-अपने पदों के अनुसार व्यवहार कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार यद्यपि तत्वतः जगत् के सभी पदार्थ ब्रह्म ही हैं किन्तु व्यवहार में उनका वही स्थान है जो हम देख रहे हैं।

वेदान्त का लाभ :

पाठक पूछ सकते हैं कि यदि इस जगत् में जिसका जो स्थान हम देख रहे हैं उसका वही स्थान है तो फिर यह जानने से क्या लाभ हुआ कि जगत् के सभी पदार्थ ब्रह्म ही हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है जो निम्नांकित है–

"यद्यपि जगत् में प्रत्येक मनुष्य का वही स्थान है जिस पर हम उसे देख रहे हैं, किन्तु वेदान्त बतलाता है कि तात्त्विक दृष्टि से सभी मनुष्य ब्रह्म ही हैं। अतः एक दूसरे के बराबर ही हैं। इसलिये जब एक मनुष्य दूसरे के साथ व्यवहार करे तो उसे यह समझकर उसके साथ व्यवहार करना चाहिये कि, "वह मेरे बराबर ही है।"

ईश्वर सदैव मेरे साथ है–जब सभी मनुष्य ब्रह्म ही हैं तो मनुष्य और ईश्वर में भेद ही कहाँ रहा? ईश्वर मनुष्य में इतनी घनिष्ठता है कि उसकी कोई उपमा इस जगत् में नहीं मिलती है। वेदान्त कहता है कि पिता और पुत्र में जितनी घनिष्ठता होती है या बड़े भाई और छोटे भाई में जितनी घनिष्ठता होती है या जीव और शरीर में जितनी घनिष्ठता है उससे भी अधिक घनिष्ठता ईश्वर और मनुष्य में है और जब ऐसा है तो मनुष्य को

यह समझकर अपना कार्य करना चाहिये कि ईश्वर बराबर मेरे साथ है और मेरी सहायता कर रहा है। यदि मनुष्य अपने संस्कारों के अनुसार कोई अनुचित कार्य भी कर बैठे तो भी उसे यह समझते हुए पश्चाताप करना चाहिये। यद्यपि मैंने अपने संस्कारों के कारण यह अनुचित कार्य कर डाला है, किन्तु ईश्वर मेरे साथ है और ऐसी बुराइयों से बचने के लिये मुझे शक्ति प्रदान करेगा।

वेदान्तियों के सम्प्रदाय :

ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध के प्रश्न पर वेदान्तियों में कई सम्प्रदाय चल रहे हैं यथा–अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टताद्वैतवाद आदि। जो वेदान्ती मानते हैं कि ईश्वर और मनुष्य वास्तव में एक ही हैं उन्हें अद्वैतवादी कहते हैं।

जो वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि ईश्वर और मनुष्य दोनों हैं, फिर भी एक ही हैं। दोनों होते हुए भी एक ही हैं। उनको द्वैताद्वैतवादी कहते हैं। ऐसे ही विशिष्टाद्वैतवादी आदि वेदान्तियों के कई सम्प्रदाय हैं।

नेति नेति :

अन्त में ईश्वर और मनुष्य के बीच कैसा सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध पर हम थोड़ा सा प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं। वेदान्तियों ने ईश्वर और जीव के बीच सम्बन्ध का नेति–नेति कहकर वर्णन किया है। नेति का अर्थ होता है ऐसा नहीं अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच कैसा सम्बन्ध है? इसकी कोई उपमा जगत् में नहीं है। यदि हम कहें कि ईश्वर और मनुष्य के बीच पिता और पुत्र का सम्बन्ध है तो वेदान्त कहता है नेति अर्थात् ऐसा नहीं। अर्थात् पिता और पुत्र के बीच जैसा सम्बन्ध होता है उससे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध ईश्वर और मनुष्य के बीच होता है। पिता और पुत्र तो एक–दूसरे से अलग रह सकते हैं, किन्तु ईश्वर तो सदैव मनुष्य के साथ ही रहता है।

यदि हम कहें कि ईश्वर मनुष्य के बीच वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जीव और शरीर के बीच सम्बन्ध है तो वेदान्त कहता है नेति अर्थात् ऐसा भी नहीं, क्योंकि जीव तो शरीर से निकल जाया करता है, किन्तु ईश्वर मनुष्य से कभी पृथक् नहीं होता है। यदि हम कहें कि ईश्वर और मनुष्य के बीच वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि शरीर और छाया का होता है तो भी वेदान्त कहता है नेति अर्थात् ऐसा भी नहीं, क्योंकि छाया भी वैसा ही कार्य करती है जैसा कि शरीर करता है, किन्तु मनुष्य का कार्य ईश्वर से पृथक् प्रकार का होता है।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर मनुष्य के बीच जैसी घनिष्ठता है उसकी उपमा जगत् में नहीं मिलती है।

अध्याय–छः

मीमांसा दर्शन :

मीमांसा दर्शन प्राचीन काल में अपने वर्तमान दार्शनिक रूप में मान्य नहीं था, परन्तु भगवान् कृष्ण के काल में अधिकांश जनता वैदिक यज्ञ योगों में विश्वास करती थी और

बहुत से यज्ञ किया करती थी। ये यज्ञ विभिन्न देवताओं के नाम पर उन्हें प्रसन्न करके स्वर्गादि तथा विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये किये जाते थे। ये यज्ञ कुछ तो शास्त्रीय प्रकार से किये जाते थे और कुछ तो साधारण लोग अपनी मनगढ़न्त रीतियों से किया करते थे, जैसे आधुनिक काल में ओझा, सोखा आदि विभिन्न देवियों, भूतों और प्रेतों आदि की पूजा किया करते हैं। भगवान् कृष्ण ने उन समस्त यज्ञों और पूजाओं जिनके पीछे कोई बुद्धि की बात नहीं होती थी त्याज्य बतलाया है और स्पष्ट शब्दों में कहा है–

"दूरेणहयवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणभन्विच्छ कृपणाः फल हेतवः॥"

अर्थात् यदि यज्ञादि कर्म किये जायें, किन्तु उनके पीछे कोई बुद्धि न हो तो वे अवर अर्थात् निकृष्ट प्रकार के हैं और त्याज्य हैं। हे अर्जुन, तुझे यज्ञादि कर्मों के फलों के प्राप्ति की ओर ध्यान न देते हुए यह बात सोचनी चाहिये कि यह कार्य कितना बुद्धिपूर्वक है। इस श्लोक का कुछ लोगों ने अन्य प्रकार से भी अर्थ किया है, किन्तु प्रकरण को देखते हुए इस श्लोक का यही अर्थ उपयुक्त है।

आचार्य कुमारिल भट्ट ने सबसे पहले मीमांसा दर्शन की स्थापना एक दार्शनिक रूप में की। स्वल्प में इनका कथन यह है कि यह संसार मिथ्या नहीं है जैसा कि वेदान्ती लोग मानते हैं, वरन् सत्य है। मनुष्य को चाहिये कि वेद विहित कर्मों यज्ञादि को बराबर करता रहे। यज्ञादि के करने से एक विशेष शक्ति उदित हो जाती है, जिसे मीमांसा दर्शन की भाषा में "अपूर्व" कहा है, यही अपूर्व नामक शक्ति ही मनुष्य को स्वर्गादि तथा अन्य लौकिक कामनाओं को दिलाने वाली होती है।

मीमांसकों के दो सम्प्रदाय हैं (1) आदय सम्प्रदाय (2) प्रभाकर मिश्रा का सम्प्रदाय। दोनों में थोड़ा-थोड़ा भेद है, जो विशेष महत्व का नहीं है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने न्याय दर्शन का कई बातों में अपने ढंग से संशोधन किया है यथा–न्याय दर्शन के आचार्य नौ ही द्रव्य मानते हैं, जो हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि या तैजस, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन किन्तु कुमारिल भट्ट ने इन द्रव्यों में दो और द्रव्य जोड़ दिये हैं जो हैं, शब्द और अंधकार। ऐसे ही न्याय दर्शन के आचार्य चार प्रकार के प्रमाण मानते हैं, जो हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। किन्तु कुमारिल भट्ट ने इनमें दो और जोड़ दिये हैं जो हैं–अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इन संशोधनों का साधारण पाठकों के लिये कोई वैसा महत्व नहीं है। ये सब केवल पंडितऊ झगड़े हैं। हम यहाँ कुछ कुमारिल भट्ट के विषय में भी बतला दें।

कुमारिल भट्ट :

कुमारिल भट्ट शंकराचार्य से पूर्व के हैं। कहा जाता है कि श्री शंकराचार्य का जिन मण्डन मिश्र के साथ इतिहास प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था वे कुमारिल भट्ट के अनुयायी थे। कुछ लोगों ने कुमारिल भट्ट को उत्तर रामचरित मानस के रचयिता भवभूति (620 ई०–680 ई०) का गुरु कहा है।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट का काल कुछ विद्वानों के मत में 590 ई०-650 ई० तक ठहरता है। पाश्चात्य विद्वान कीथ के अनुसार कुमारिल भट्ट का काल 700 ई०-850 ई० के बीच होना चाहिये।

कुमारिल भट्ट कुछ विद्वानों के मत में बिहारी ब्राह्मण थे तथा कुछ विद्वानों ने इन्हें दक्षिणात्य माना है। कहा जाता है कि बौद्ध धर्म के पश्चात् जब यज्ञ याग आदि का लोप होने लगा, तो कुमारिल भट्ट ने पुनः यज्ञों का उद्धार किया यतः यज्ञों के सबसे बड़े विरोधी बौद्ध ही थे, अतः कुमारिल भट्ट ने पहले बौद्ध धर्म को स्वीकार करके बौद्धों के दार्शनिक ग्रंथ पढ़े। फिर धर्म परिवर्तन करके हिन्दू बन गये और बौद्ध दर्शनों का खण्डन किया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मीमांसा दर्शन का सबसे महत्त्व का सिद्धान्त "अपूर्व" का सिद्धान्त है, अर्थात् वैदिक यज्ञादि करने से अपूर्व नामक एक शक्ति का उदय होता है, जो मनुष्य को स्वर्गादि कामनाओं को दिलाती है।

आत्मा :

मीमांसकों के कुछ और विलक्षण सिद्धान्त हैं यथा-आत्मा जड़ और चेतन दोनों प्रकार की होती है। ऐसे ही आत्मा कर्ता और भोक्ता दोनों प्रकार की होती है एवं च आत्मा ज्ञाता और श्रेय भी दोनों प्रकार की होती है। आत्मायें असंख्य होती हैं। मोटे प्रकार से हम इसे इस प्रकार समझा सकते हैं, कि आत्माओं को हम ईश्वर कह सकते हैं और उससे निम्न प्रकार की दो आत्माओं को हम जीव एवं प्रकृति कह सकते हैं। इनमें से भगवान् कृष्ण ने गीता में जीव को परा प्रकृति और जड़ प्रकृति को अपरा प्रकृति नाम दिया है।

बौद्धों ने जो आत्मा को नहीं माना है और जिसे बौद्धों का 'अनात्मवाद' कहते हैं, उसका कुमारिल भट्ट ने प्रबल खण्डन किया है।

जगत् :

अन्य दार्शनिक सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त मानते हैं, किन्तु कुमारिल भट्ट सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त नहीं मानते हैं। उनके अनुसार न तो एक ही साथ सृष्टि का कोई भाग उत्पन्न हुआ है और न तो एक ही साथ उसका विनाश ही होगा। संसार जैसे चल रहा है, वह वैसे ही बराबर चलता रहेगा।

अध्याय-सात

ईश्वर का अस्तित्व :

मुख्य-मुख्य दर्शन शास्त्रों के आचार्यों के विचारों का संक्षेप में उल्लेख कर चुकने के पश्चात् अब हम उनके विचारों को ध्यान में रखते हुए ईश्वर के अस्तित्व पर और अधिक प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

यद्यपि हमारे वैदिक ऋषि-मुनि अतीन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न थे और उन्होंने ईश्वर का

साक्षात्कार कर लिया था, अतः ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उनके वचनों से अधिक और बड़ा प्रमाण हो ही क्या सकता है? फिर भी कुछ दर्शनशास्त्रों के आचार्यों ने कहा है कि "यतः ईश्वर किसी ज्ञानेन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता है, अतः उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण हो ही नहीं सकता है।" और इसी से उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया, इसीलिये हम इस प्रश्न पर और अधिक प्रकाश डाल रहे हैं–

भारत में आदिम नास्तिक दर्शन के आचार्य चार्वाक का कथन है कि यह सृष्टि या जगत् जैसा है "वैसा स्वभावतः ही है। जगत् की जो वस्तु जैसी है वैसी स्वभावतः ही है। उसे किसी ने वैसा बनाया नहीं है।

अग्निरुष्णाः जलंशीतम् शीत स्पर्श स्तथानिलः।
केनेदंनिर्मितम् तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थितिः॥

अर्थ–चार्वाक का कथन है कि भला आग को गर्म किसने बनाया, जल को शीतल किसने बनाया, वायु को भी शीतल किसने बनाया? इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि इन्हें किसी ने ऐसा बनाया नहीं है। वरन् वे ऐसे स्वभावतः ही हैं। ऐसे ही गुड़ भी स्वभावतः मीठा है, विष स्वभावतः घातक है इत्यादि किसी ने इन्हें ऐसा बनाया नहीं है।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि या जगत् स्वभावतः आदि से ही ऐसा ही है, किसी ने इसे ऐसा बनाया नहीं है।

किन्तु हम देखते हैं कि इस सृष्टि में दो ही मूल तत्व हैं, इनमें से प्रथम है प्रकृति, जो जड़ है और जिसके आकाश, वायु, सूर्य, जल, समुद्र तथा भूमि विभिन्न अंग हैं एवं दूसरा तत्व है जीव अर्थात् मनुष्य और पशु-पक्षी आदि।

हम यह भी देखते हैं कि जड़ प्रकृति के सभी अंग इस प्रकार के गुणों वाले बने हुए हैं कि उनके सहयोग से जो कार्य होते हैं, उनके फलस्वरूप जीव अर्थात् मनुष्य और पशु-पक्षी आदि जीवित रहते हैं एवं अस्तित्व में बने रहते हैं, यथा–

जब सूर्य तपता है, तो उसके इस गुण के कारण समुद्र का जल भाप बन जाता है (क्योंकि जल में तपने से भाप बन जाने का गुण विद्यमान है) इस भाप को वायु बादलों के रूप में भूमि के ऊपर आकाश में बिखेर देती है, (क्योंकि वायु में उड़ाने और बिखराने के गुण हैं) फिर यही भाप भूमि पर बरस जाती है, जिससे भूमि आर्द्र होकर गेहूँ आदि अन्न के पौधों, विभिन्न प्रकार के फलदार लताओं तथा फलदार वृक्षों, प्रकृति वनस्पतियों को उगाती है, (क्योंकि भूमि में आर्द्र होकर वनस्पतियों के उगाने का गुण विद्यमान है।) अन्त में इन्हीं वनस्पतियों को खाकर जीव अर्थात् मनुष्य और पशु-पक्षी आदि जीवित रहते हैं।

इतना ही नहीं, वायु के चलने से ही मनुष्य और पशु-पक्षी आदि साँस भी लेते हैं, जिसके बिना वे जीवित नहीं रह सकते हैं एवं बादलों से बरसे हुए जल को मनुष्य और पशु-पक्षी आदि अपने जीवन रक्षार्थ पीते हैं।

इस प्रकार जब हम देखते हैं कि जड़ प्रकृति के सभी अंगों के गुण इस प्रकार के बने हुए हैं कि उनसे सृष्टि के प्रमुख अंग मनुष्यों और पशु-पक्षियों आदि की रक्षा होती

है, तो हमको इस बात को मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि जीवों और जड़ प्रकृति दोनों के ऊपर कोई ऐसी बुद्धिमती महाशक्ति अवश्य है, जिसने महाबुद्धिमतापूर्वक प्रकृति के विभिन्न अंगों में उपर्युक्त विभिन्न गुण उत्पन्न किये हैं, जिनके परिणामस्वरूप सृष्टि के सर्व प्रधान अंग मनुष्य और पशु-पक्षी आदि जीवित रहते हैं।

प्रकृति के विभिन्न अंगों में जो गुण विद्यमान हैं, वे स्वभावतः या अपने आप उत्पन्न नहीं हुए हैं, वरन् उसी महाशक्ति ने उन अंगों में इन गुणों को उत्पन्न किया है। हम इसी महाबुद्धि महाशक्ति को ईश्वर, परमेश्वर आदि नामों से अभिहित करते हैं।

घुणाक्षर न्याय :

कुछ लोगों का कथन है कि इस जगत् की रचना घुणाक्षर न्याय से हो गयी है। यहाँ पाठक घुणाक्षर न्याय को भली-भाँति समझ लें।

आपने देखा होगा कि जब घुण लकड़ी के टुकड़े को काटता है तो वह काटता तो है अपने भोजन आदि के लिये, किन्तु काटने से उसमें कभी-कभी ग न र आदि अक्षर लकड़ी पर खोद उठते हैं। यद्यपि घुण का प्रयोजन इन अक्षरों के खोदने का नहीं होता है। इस प्रकार घुणों के लकड़ी को काटने से लकड़ी पर संयोग से अक्षरों के खोद उठने की क्रिया को घुणाक्षर न्याय कहते हैं।

ऊपर घुणाक्षर न्याय के विषय में जैसा बतलाया गया है उससे स्पष्ट है कि जैसे लाखों-लाखों घुणों से काटे जाते हुए लकड़ी के टुकड़ों को देखने पर एकाध ही टुकड़ा ऐसा मिलेगा जिस पर ग न र प्रभृति सरल अक्षर खोद उठे हों। वैसे ही किसी व्यक्ति या कर्ता से सैकड़ों-सैकड़ों वर्षों के अन्तराल पर कभी-कभी सहसा ऐसे कार्य हो सकते हैं जिनको करने का उसका उद्देश्य न हो किन्तु जैसे घुणों के लकड़ी को काटते रहने से लकड़ी पर सार्थक दोहे या चौपाइयों को खोद उठना तो असम्भव ही है, वैसे ही किसी व्यक्ति या कर्ता से सहसा कोई बड़ा कार्य हो उठना तो असम्भव ही है। घुणाक्षर न्याय से इस निस्सीम जगत् के रच उठने की बात करना तो अत्यन्त ही हास्यास्पद है।

यहाँ हम इस अध्याय में क्षुद्र से क्षुद्र जीवों की रक्षा की ओर शीर्षक के नीचे दिये हुए उदाहरणों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे। इन उदाहरणों से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि सृष्टि में असंख्य कार्य ऐसे होते रहते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि इस सृष्टि या जगत् का संचालन करने वाली महाशक्ति अपने क्षुद्र से क्षुद्र जीवों की भी रक्षा की ओर बराबर ध्यान देती रहती है तथा इन उदाहरणों से घुणाक्षर न्याय का सिद्धान्त भी सर्वथा खण्डित हो जाता है।

अपरंच हम तनिक इस बात पर भी विचार करें कि स्वयं जीव अर्थात् मनुष्य और पशु-पक्षी आदि क्या हैं? ये कैसे अस्तित्व में आये? विद्वानों का कथन है कि सृष्टि के प्रारम्भ में केवल अव्यक्त प्रकृति थी, जो पहले धीरे-धीरे आकाश, वायु, सूर्य, समुद्र और भूमि के रूप में व्यक्त हुई। आधुनिक वैज्ञानिकों का यह सर्वमान्य मत है कि फिर भूमि

के अस्तित्व में आने के तीन अरब वर्षों के पश्चात् भूमि पर स्थित समुद्रों के जल में जीव परमाणु के रूप में स्वयं उत्पन्न हो गये।

अब विचार कीजिये कि ये जीव समुद्र के जल में कैसे उत्पन्न हुए? इन्हें जल या प्रकृति के गर्भ से उत्पन्न तो माना ही नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रकृति जड़ है, जबकि जीव चेतन है। दार्शनिकों की मान्यता है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। जब प्रकृति चेतन है ही नहीं, तो उससे चेतन जीव कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। तो फिर समुद्र के जल में जीव उत्पन्न कैसे हो गये? अवश्य ही किसी एक परम शक्ति को मानना ही पड़ेगा, जिसने जीवों को उत्पन्न किया है। अतः एक परम शक्ति अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार ही करना पड़ेगा, जिसने जीवों को उत्पन्न किया है।

छुद्र से छुद्र जीवों की रक्षा की ओर भी :

हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस सृष्टि या जगत् का संचालन करने वाली जो महाशक्ति है, वह केवल अपने सृष्टि के बड़े-बड़े जीवों की ही नहीं, वरन् छुद्र से छुद्र जीवों की रक्षा की ओर भी बराबर ध्यान देती रहती है। हम इस महाशक्ति के ऐसे असंख्य कार्यों में से केवल दो का उल्लेख कर रहे हैं–(1) हम सभी बया पक्षी को तो जानते ही हैं। यह एक छोटा सा पक्षी है, किन्तु इसके कार्य बड़े अद्‌भुत होते हैं। योसा (मादा) को इस बात का ज्ञान रहता है कि वह अण्डा कब देगी और अपने अण्डे के रक्षार्थ वह मासों पहले अपना घोंसला बनाने लगती है तथा घोंसला भी वह ऐसा बनाती है कि एक दक्ष पुरुष भी वैसा घोंसला बुन नहीं सकता है। न जाने कौन उसे ऐसा कलापूर्ण घोसला बनाने का ढंग दे देता है।

(2) कुछ ठण्डे देशों के पक्षी जाड़े के दिनों में अपने देशों को छोड़कर भारत प्रभृति गरम देशों में चले जाते हैं और जाड़ा समाप्त होते ही पुनः अपने देशों को लौट जाते हैं। न जाने इन पक्षियों को यह ज्ञान कैसे हो जाता है कि भारत प्रभृति गरम देश उनके देशों से किस ओर या कितनी दूरी पर स्थित है। वे पक्षी जाड़े की ऋतु के प्रारम्भ होते ही झुण्डों में उड़ते हुए अपने देशों के समीप में स्थित गरम देशों में चले जाते हैं और फिर जाड़ों की ऋतु के समाप्त होते ही अपने देशों को लौट जाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अवश्य ही एक ऐसी महाशक्ति है, जो बया जैसे क्षुद्र पक्षी को कलापूर्ण घोसला बनाने का ढंग दे देती है जिससे उसका वंश सुरक्षित रहे या ठण्डे देशों के पक्षियों को जीवित रखने के लिये उन्हें गरम देशों की दिशा की जानकारी दे देती है।

स्कन्ध 'चौदह'

गीता के अध्यायों का सारांश

गीता के अध्यायों का सारांश लिखने से पहले हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि भगवान् कृष्ण ने कुछ विशेष शब्दों का जो प्रयोग किया है उससे उनका क्या तात्पर्य है?

(१)

भगवान कृष्ण नें सांख्य शब्द का प्रयोग बहुत बार किया है। यद्यपि सांख्य शब्द का अर्थ सांख्य दर्शन को मानने वाला होता है, किन्तु सांख्य दर्शन का भगवान् कृष्ण के काल में इतना अधिक प्रचार-प्रसार था और उसके मानने वाले इतने अधिक थे कि साधारण जनता प्रत्येक प्रकार के दार्शनिकों या धार्मिक पुरुषों तथा वन में रहने वाले ऋषियों, मुनियों को सांख्य ही कहा करती थी। अतः इस अर्थ में भी भगवान् कृष्ण ने कई बार सांख्य शब्द का प्रयोग किया है।

(२)

भगवान् कृष्ण के काल के सांख्यों. की मान्यता थी कि जब मनुष्य को ईश्वर का पूर्ण ज्ञान या साक्षात्कार हो जाये अथवा अभ्यास और तपस्या द्वारा मनुष्य अपने को ऐसा बना ले कि वह प्रकृति के अंगभूत अपने शरीर से अपने को भिन्न समझने लगे तब इसे तुरन्त संसार का त्याग करके वन सेवन करने लग जाना चाहिये और अपनी शेष आयु में कोई कर्म नहीं करना चाहिये। यहाँ तक कि अपनी जीवन वृत्ति के लिये भी कोई कर्म नहीं करना चाहिये क्योंकि कर्म बन्धन के कारण होते हैं। सांख्यों की यह मान्यता थी कि यदि मरने के समय मनुष्य के मन में कोई कामना शेष रह जाती है तो उसे पुनर्जन्म ग्रहण करना ही पड़ता है और संसार के आवागमन से उसका मोक्ष नहीं हो पाता है। जब ईश्वर का साक्षात्कार कर चुकने के पश्चात् मनुष्य कोई कर्म करेगा ही नहीं तो मरने के समय उसके मन में कर्मफल के प्रसंग में कोई कामना ही शेष नहीं रहेगी जिससे मरणोपरान्त उसे शाश्वत शान्ति की प्राप्ति हो जायेगी। यही कारण है कि सांख्य मार्गी शब्द का प्रयोग भगवान् कृष्ण ने कर्म का त्याग करके वन सेवन करने वाले महापुरुषों अर्थात् कर्म संन्यासियों के लिये किया है और कभी-कभी केवल संन्यासी शब्द का प्रयोग भी सांख्य मार्गियों के लिये किया है।

(३)

भगवान् कृष्ण कर्म संन्यास को श्रेष्ठ नहीं मानते थे। वरन् वे कर्म योग को श्रेष्ठ मानते थे। भगवान् कृष्ण का कर्म योग से तात्पर्य यह था कि मनुष्य कर्म तो करे और पूरी संलग्नता के साथ करे, किन्तु अपने को ऐसा बना ले कि यदि उसे कर्म का उचित फल न प्राप्त हो तो इससे वह तनिक भी उद्विग्न या दुखी न हो। यही कर्म योग है। अर्थात्

कर्म के फलों में आसक्ति न रखकर कर्म करने को कर्म योग कहते हैं। जब कर्म के फल में कोई आसक्ति नहीं रहेगी तो कर्म करने पर भी वह बन्धन का कारण नहीं बनेगा। कर्म योग ही भगवान् कृष्ण का या गीता का मुख्य उपदेश है। कर्मयोग के लिये भगवान् कृष्ण ने केवल योग शब्द का प्रयोग भी किया है। ऐसे ही कर्मयोगी के लिये भगवान् कृष्ण ने केवल योगी शब्द का प्रयोग भी किया है।

सारांशतः भगवान् कृष्ण ने सांख्य शब्द का प्रयोग अपने काल के सभी दर्शनशास्त्रियों, धार्मिक महापुरुषों एवं ऋषियों-मुनियों के लिये किया है एवं संन्यासमार्गी शब्द का प्रयोग भगवान् कृष्ण ने उन महापुरुषों के लिये किया है जो ईश्वर का साक्षात्कार कर चुकने के पश्चात् वन सेवन करने लगते थे। अर्थात् सांख्य मार्गी से उनका तात्पर्य कर्म संन्यासियों से था। ऐसे ही कर्म योग शब्द का प्रयोग भगवान् कृष्ण ने कर्म फल में आसक्ति न रखते हुए कर्म करने को कहा है और ऐसे महापुरुषों के लिये उन्होंने केवल योगी शब्द का भी प्रयोग किया है। कर्म योग के लिये भगवान् कृष्ण ने केवल योग शब्द का प्रयोग भी किया है।

अध्याय-एक 'क'

अब हम गीता के अध्यायों का सारांश लिखना प्रारम्भ करते हैं। सबसे पहले हम गीता के प्रथम और द्वितीय अध्यायों का सारांश लिखेंगे जो गीता के सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं और एक-दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध हैं।

गीता के प्रथम और द्वितीय अध्यायों का सारांश :

पहले अध्याय में बतलाया गया है कि जब महाभारत युद्ध प्रारम्भ हुआ और कौरव तथा पाण्डव दोनों पक्ष की सेनायें आमने-सामने रणक्षेत्र में आकर डट गयीं तो अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा भगवान् आप मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कर दें जिससे कि मैं यह जान लूँ कि कुरुदेश का राज्य प्राप्त करने के लिये या भारत का सम्राट् बनने के लिये किन-किन लोगों से युद्ध करना पड़ेगा। तद्नुसार ही भगवान् कृष्ण ने अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कर दिया और अर्जुन कौरव सेना की ओर देखने लगा।

किन्तु जब अर्जुन ने देखा कि अरे मुझसे लड़ने के लिये तो स्वयं भीष्म पितामह तैयार खड़े हैं, जिनकी गोद में मैं बचपन में खेलता रहा हूँ। मेरे समक्ष में तो स्वयं मेरे गुरु द्रोणाचार्य जी हैं, जिन्होंने बड़े प्रेम से मुझे धनुर्विद्या की शिक्षा दी है। मेरे मामा शल्य तथा अन्य सम्बन्धी भी मुझसे लड़ने के लिये तैयार हैं, तो क्या युद्ध में विजय प्राप्त करके राज्य सुख भोगने के लिये मुझे अपने इन समस्त गुरुजनों या सम्बन्धियों का वध करना पड़ेगा? हरे-हरे ! अपने गुरुजनों या सम्बन्धियों को मार कर राज्य सुख भोगने की अपेक्षा भिक्षा-माँगकर जीवन व्यतीत करना कहीं उत्तम है। अर्जुन का मन शोक से भर गया। उसका गांडीव धनुष उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा और वह कातर होकर भगवान् कृष्ण से बोला भगवन्! मैं युद्ध नहीं करूँगा।

इस पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समझाना प्रारम्भ किया। अर्जुन मैं तुझे इसलिये युद्ध करने के लिये नहीं कह रहा हूँ कि तू विजयी होकर राज्य सुख भोग! मैं तो तुझे इसलिये युद्ध करने के लिये कह रहा हूँ कि यदि दुर्योधन और दुःशासन आदि जैसे दुष्टों और अन्यायियों का भारतवर्ष पर राज्य स्थापित हो जायेगा तो भारतवर्ष की बड़ी दुर्दशा होगी और प्रजा को बड़ा ही दुख भोगना पड़ेगा। आज एक क्षत्रिय के रूप में प्रजा की रक्षा के लिये तुझे युद्ध करना ही है। वेदों के अनुसार आज तेरा यही कर्तव्य बनता है कि तू युद्ध कर। तू यों इसलिये युद्ध करना नहीं चाहता है तुझे जो भीष्म पितामह एवं द्रोणाचार्य जैसे गुरुजनों का वध करना पड़ेगा तो यह समझकर युद्ध कर कि अपने कर्तव्य पालन के प्रसंग में जघन्य से जघन्य कार्य भी करने पड़ जाते हैं जिन्हें मनुष्य को करना ही चाहिये। विद्वानों के अनुसार जब आत्मा अजर-अमर है तो यह समझकर युद्ध कर यदि तू अपने गुरुजनों का वध कर देगा तो भी ये समाप्त नहीं हो जायेंगे। केवल युद्ध में मरने के पश्चात् उनका शरीर बदल जायेगा, उनकी आत्मा तो वही रहेगी।

अपरंच हे अर्जुन! यदि तू कहे तो 4 वेदों द्वारा विहित अपने क्षात्र कर्तव्य के पालन करने से मुझे स्वर्ग तो प्राप्त हो सकता है किन्तु युद्ध भी तो एक कर्म ही है और सांख्य दर्शन के आचार्यों के अनुसार कर्म बन्धन के कारण होते ही हैं। अतः यह युद्ध रूप कर्म मेरे बन्धन का कारण होगा और मुझे अपने कर्तव्य पालन करने पर स्वर्ग तो भले ही मिल जाये किन्तु मोक्ष तो नहीं ही मिलेगा।'' तो मोक्ष मिलने का भी उपाय सुन–''यदि तू कर्म तो करे किन्तु निष्काम भाव से कर्म करे अर्थात् कर्म के फल में आसक्ति न रखते हुए कर्म करे तो कर्म तेरे बन्धन का कारण नहीं होगा। कर्म योग के अनुसार कर्म के फल में आसक्ति न रखकर कर्म करने से वह बन्धन का कारण नहीं बनता है। इसलिये तू कर्मयोगी के रूप में समाहित होकर स्थित प्रज्ञ बनकर युद्ध कर। अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से पूछा'' भगवन्! आपने जो मुझे स्थित प्रज्ञ एवं समाहित होकर युद्ध करने को कहा है, कृपया आप बतलायें कि स्थित प्रज्ञ कहते किसे हैं?

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को स्थित प्रज्ञ का अर्थ गीता के अध्याय 2 के 54वें से 72वें श्लोक तक समझाया है जिसे हम नीचे सारांशतः लिख देते हैं। स्थित प्रज्ञ का अर्थ बतलाने वाले ये श्लोक इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रतिदिन महात्मा गाँधी की प्रार्थना सभाओं में इनका पाठ किया जाता था वरन् आज भी गाँधीवादियों की प्रार्थना सभाओं में प्रतिदिन इनका पाठ किया जाता है।

भगवान् कृष्ण ने स्थित प्रज्ञ का अर्थ समझाते हुए कहा–''स्थित प्रज्ञ उस मनुष्य को कहते हैं जो सदैव उन्नति का प्रयत्न तो करता ही रहे, किन्तु अपनी वर्तमान अवस्था, में दुख का अनुभव न करे, वरन् संतोष के साथ अपने कर्तव्य का पालन करता रहे। अपने कर्तव्य पालन के प्रसंग में यदि मनुष्य को दुख उठाना पड़े तो इससे उसे घबराना नहीं चाहिये, साथ ही यदि मनुष्य को अपने कर्तव्य पालन के प्रसंग में सुख के अवसर प्राप्त

हो जायें तो इससे भी वह बहुत मुदित न हो जाये। वरन् उसे ईश्वर की कृपा समझकर शान्त ही रहे। यथा यदि किसी कृषक को बड़े संलग्न्तापूर्वक कृषि करने के पश्चात् उसे वाँछित उपज न प्राप्त हो तो वह यह जानने का प्रयत्न तो अवश्य करे कि मेरे प्रयत्नों में क्या कमी रह गयी थी? जिससे मुझे वाँछित उत्पाद नहीं मिला, किन्तु साथ ही वाँछित उत्पाद न मिलने पर वह उद्विग्न या खिन्न भी न हो जाये और घबराये नहीं। वरन् इसे ईश्वर की इच्छा समझकर शान्त ही रहे।

किन्तु यदि कृषक को अपनी कृषि से अन्न का उत्पाद आशा से अधिक प्राप्त हो जाये तो वह इससे बहुत मुदित भी न हो जाये वरन् उसे ईश्वर की कृपा समझकर शान्त ही रहे। स्थित प्रज्ञ मनुष्य वासनाओं की ओर से अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार समेट ले जैसे कि कछुआ कष्ट की अवस्था में अपने अंगों को भीतर समेट लेता है। यदि स्थित प्रज्ञ को काम आदि वासनाओं को तृप्त करने की आवश्यकता पड़े ही तो वह अपनी वासनाओं को तृप्त तो करे किन्तु अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते हुए ऐसा करे। यथा यदि मनुष्य को संतानोत्पत्ति के लिये स्त्री संभोग करना हो तो वह उसे भी करे, किन्तु साथ ही ऐसा अपनी इन्द्रियों पर संयम के साथ करे। इससे मनुष्य को अपूर्व सुख प्राप्त होगा। स्थित प्रज्ञ वही है जो ईश्वर का ध्यान करते हुए अपनी इन्द्रियों को संयम में रखने का बराबर प्रयत्न करता रहे, किन्तु इस कार्य में कठोरता न बरते वरन् धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे ईश्वर का ध्यान करते हुए इन्द्रियों का संयम करे। इस बात को बराबर ध्यान में रखना चाहिये कि इन्द्रियों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे विषयों की ओर दौड़ती ही है और उन्हें विषयों का ध्यान करने या सेवन करने में एक प्रकार का रस मिलता है। चाहे कितनी तपस्या क्यों न की जाये उसमें विषय तो भले ही निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु विषयों का ध्यान करने या सेवन करने में एक प्रकार का रस मनुष्य को मिलता ही है और यह रस कभी समाप्त नहीं होता है। यह रस तो तभी समाप्त होता है जब मनुष्य को "परम दर्शन" या ईश्वर का साक्षात्कार हो जाये। ईश्वर का साक्षात्कार धीरे-धीरे धैर्यपूर्वक इन्द्रियों का संयम करते रहने से ही होता है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्टवा निवर्तते॥

अर्थ–आहार आदि का सेवन न करने या तपस्या करने से मनुष्य की विषय सेवन की वासना तो निवृत्त हो जाती है, किन्तु विषयों के सेवन से जो एक प्रकार का रस मिलता है वह कभी समाप्त नहीं होता है। विषयों के सेवन में जो एक प्रकार का रस मिलता है वह तो तभी समाप्त हो सकता है जब मनुष्य को "परम दर्शन्" अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार हो जाये।

स्थित प्रज्ञ वही है जो अपने इन्द्रियों पर संयम स्थापित करने में समर्थ हो जाये। जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर संयम स्थापित कर ले जायेगा और अपने कर्तव्य के पालन करने

के पश्चात् उसका फल अनुकूल या प्रतिकूल चाहे जैसा भी मिले उससे वह न तो बहुत मुदित हो जाये और न दुखी ही हो, तो ऐसे मनुष्य के विषय में यही समझना चाहिये कि उसे ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो गयी है और ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त मनुष्य फिर अपने उचित मार्ग से डिगता नहीं है।

अध्याय-एक 'ख'

गीता के अध्याय तीन, चार और पाँच का सारांश :

अध्याय तीन, चार और पाँच एक-दूसरे से ऐसे मिले हुए हैं कि इनका सारांश एक ही साथ बतलाना युक्त है। दूसरे अध्याय में भगवान् कृष्ण ने सांख्य दर्शन की मान्यताओं के प्रकाश में अर्जुन को समझाया कि हे अर्जुन, तू क्षत्रिय के रूप में अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये युद्ध कर और इस बात की चिन्ता मत कर कि तुझे रणक्षेत्र में अपने भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य जैसे गुरुजनों का बध करना पड़ेगा, क्योंकि सांख्य अर्थात् दर्शनशास्त्र के आचार्यों के अनुसार आत्मा अजर अमर है। यदि तुमने अपने वेद विहित कर्तव्य पालन के प्रसंग में अपने गुरुजनों का वध भी कर दिया तो भी कोई बात नहीं होगी, क्योंकि तुम्हारे गुरुजन तो सांख्य दर्शन अर्थात् विद्वानों या धार्मिक महापुरुषों की मान्यताओं के अनुसार अजर-अमर हैं। युद्ध में मार डाले जाने पर उनकी समाप्ति नहीं हो जायेगी। वे तो फिर भी जीते ही रहेंगे। केवल उनका शरीर बदल जायेगा। उनकी आत्मा तो नहीं बदलेगी। तात्विक दृष्टि से मरने या मारने के पश्चात् मनुष्य की आत्मा बराबर बनी रहती है।"

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आगें समझाते हुए कहा, हे अर्जुन यदि तू सांख्यों या आधुनिक दर्शनशास्त्र के आचार्यों के समान यह मानता है कि "कर्म बन्धन के कारण होते ही हैं। भले ही वे उत्तम उद्देश्य से किये गये हों अर्थात् सत्कर्म हों। क्योंकि सत्कर्मों के परिणामस्वरूप यद्यपि मनुष्य को मरणोपरान्त स्वर्गादि तो प्राप्त हो सकते हैं किन्तु उसे संसार में आवागमन से छुटकारा तो नहीं ही मिल सकता है। मनुष्य को आवागमन से छुटकारा कर्म त्याग से ही मिल सकता है" तो मैं तुझे संसार के आवागमन से भी मुक्ति का उपाय बतलाता हूँ। वह यह है कि यदि तू कर्म तो करे किन्तु कर्म के फ़ल में तेरी आसक्ति न हो तो कर्म तेरे बंधन का कारण नहीं हो सकता है। अतः तू युद्ध में विजय या पराजय दोनों के प्रति समभाव रखते हुए युद्ध कर अर्थात् युद्ध के फल में आसक्ति न रखते हुए निष्काम भाव से युद्ध कर। (कर्म बन्धन के कारण होते हैं) इसको पूर्णतया समझने के लिये पाठक अध्याय 4 विशेषतया अध्याय 4 ख को पूर्णतया पढ़ लें) भगवान् कृष्ण ने अपने उपदेश में अर्जुन को निष्काम भाव से युद्ध करने का उपदेश देते हुए उसके प्रसंग में जो सांख्यमार्गियों की भी प्रशंसा की, उससे अर्जुन के मन में कुछ गड़बड़ी उत्पन्न हो गयी।

अतः उसने भगवान् कृष्ण से पूछा–भगवन्! आप मुझे स्पष्ट रूप से बतलायें कि सांख्यों का कर्म संन्यास मार्ग प्रशस्त है अथवा निष्काम भाव से कर्म करते अर्थात् कर्म योग का मार्ग उत्तम है। भगवान् कृष्ण ने उत्तर दिया अर्जुन यद्यपि निष्काम भाव से बराबर कर्म करते रहना अर्थात् कर्म योग एवं सांख्यों का कर्म संन्यास दोनों ही मार्ग उत्तम है। किन्तु मैं कर्मयोग को कर्म सन्यास से विशेष उत्तम मानता हूँ'' यथा–

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तपोस्तु कर्मसन्यासात् कर्म योगो विशिष्यते॥

अर्थात् कर्म संन्यास और कर्म योग दोनों ही मार्ग उत्तम है। किन्तु मैं कर्म संन्यास से कर्म योग को विशेष उत्तम मानता हूँ। (कर्म संन्यास और कर्म योग के विषय में पाठक भली-भाँति समझने के लिये अध्याय 4 विशेषतया अध्याय 4 ख को अवश्य पूर्णतया पढ़ लें।)

वास्तविकता यह है कि भगवान् कृष्ण कर्म संन्यास के विरोधी थे। वे मानते थे कि यद्यपि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य ईश्वर का साक्षात्कार ही है। फिर भी ईश्वर का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् भी या अपने को अपने शरीर से भिन्न समझ चुकने के पश्चात् भी महापुरुषों को इसलिये निष्काम भाव से कर्म करते ही रहना चाहिये जिससे कि दूसरे अबोध लोग उनका अनुकरण करें। किन्तु भगवान् कृष्ण के युग में कर्म संन्यास की इतनी अधिक मान्यता थी कि वे स्पष्ट शब्दों में कर्म संन्यास का विरोध नहीं करते थे।

भगवान् कृष्ण इसलिये सदैव निष्काम भाव से कर्म करते रहने या कर्म योग के पक्षपाती थे। यदि कर्म संन्यास की प्रवृत्ति प्रचलित हो जाये तो वैदिक काल से कर्मों पर आधारित जो सामाजिक व्यवस्था उत्तम ढंग से चल रही है वह बाधित हो जायेगी।

ऐसा ही जनक आदि प्राचीन कर्मयोगी भी मानते थे। यद्यपि वे जीवन मुक्त हो चुके थे। अर्थात् जीवित रहते हुए भी उन्होंने मुक्त महापुरुषों जैसा स्थान प्राप्त कर लिया था। अर्जुन भगवान् कृष्ण को स्वयं भगवान् ही मानता था। अतः उसकी श्रद्धा को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने अपने को भगवान् मानते हुए यहाँ तक कह दिया कि ''अर्जुन मैंने अपने पूर्व के अवतारों में इस मन्वन्तर के आदिम विवस्वान मनु को भी कर्म योग का ही उपदेश दिया था और यही मार्ग बराबर चलता रहा किन्तु अधिक काल व्यतीत हो जाने से लोग इस मार्ग को भूल से गये। अतः फिर मैं इस मार्ग का तुझे उपदेश कर रहा हूँ। भाव यह है कि भगवान् कृष्ण कर्मयोग को ही सबसे प्राचीन उत्तम मार्ग मानते थे।

